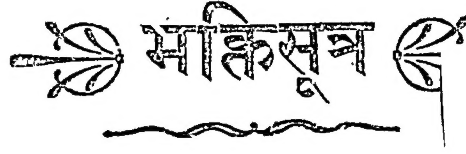
श्रीहरिः

देवर्षि–नारद–प्रोक्त



मुरादाबादनिवासि
सनातनधर्मपताका सम्पादक–भारद्वाजगोत्र-
गौड-पण्डित भोलानाथात्म (भृ०कु०)
पण्डित रामस्वरूप शर्मा कृत

पदार्थ-भाषार्थ-सहित.

सनातनधर्म यन्त्रालय
मुरादाबादमें मुद्रित
१९११

Printed & Published by Ramswaroop Sharma
at the Sanatandharm Press Moradabad,

प्रकाशककी आज्ञाबिना कोई महाशय न छापें

॥ ॐ ॥ श्रीहरिः शरणम् ॥ ॐ ॥



भूमिका

प्यारे भाई भारतवासियो। यदि इस लोकमें शान्ति के साथ जीवनयात्राका निर्वाह करने और सरल तथा मधुरमार्गसे वैकुण्ठधाममें पहुँचनेकी कामना हो तो भक्ति-मार्गके बटोही बनो। निश्चय रक्खो, कि-इस त्रितापमय संसारमें शान्ति और अंतमें अच्युतधामको पानेका पथ केवल प्रेम है। बिना निःस्वार्थ प्रेम वा विशुद्ध भक्तिके न यह लोक है, न परलोक है। भगवान्‌ने तुमको जिस जगत्‌में जन्म दिया है, जिस देश, जिस जाति वा जिस कुटुम्बमें तुमको भेजा है, उस देश, जाति और कुटुम्बसे प्रेम करो और अपने परमपूज्य प्रियतम परमात्माको भक्तभावसे ढूँढो, बस इसीमें तुम्हारा परममङ्गल है, परंतु देश, जाति और परिवारके साथ सच्चा प्रेम करनेमें तुमको स्वार्थका बलिदान करना पड़ेगा, तुम

यदि अपने भोग्य पदार्थ देश, जाति और परिवारके लिये न्यौछावर करसको तब ही तुम्हारा सच्चाप्रेम समझाजायगा। परंतु भगवत्प्रेममें और भी आगे को बढ़ना होगा, सर्वथा भोगत्याग के बिना भगवान्‌की भक्ति होना असंभव है, भगवान् में सच्चा प्रेम होगा तो विषयोंसे वैराग्य अवश्य ही होगा। यही तत्त्व नारदजी ने इन भक्तिसूत्रोंमें पद २ पर दरशाया है। जो भगवान्‌के प्रेमको पानेका प्यासा होगा, उसको विषयभोग विषमय प्रतीत होगा। ईश्वर और संसार, दोनोंकी ओरको प्रेम बाँटदेनेसे प्रेमका वास्तविक सुख नहीं मिलता, उस प्रेममें वास्तविक मधुरता नहीं होती, वह तो भक्ति भावकी क्षणभरको बिजलीकीसी चमक है, अनन्य-भाव और तन्मयताके बिना सच्चा प्रेम नहीं हो सकता। भगवान्‌के लिये व्याकुल होने पर मनमें से विषयोंका वेग कम होजाताहै, परंतु विषयभोग में मग्न होनेपर भगवान्‌में ठीक२ प्रेम नहीं होसकता।

देवर्षि नारदजीने इस शास्त्रके पहिले और दूसरे

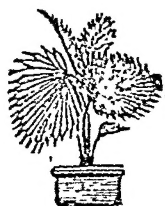
अनुवाकमें भक्तिकी मधुरता और उसको पानेके लिये मनःसंयमकी आवश्यकता दिखाई है, तीसरे और चौथे अनुवाकमें भक्तिके अनेकों प्रकारके लक्षण तथा कर्म, योग और ज्ञान से भक्तिकी अधिकता वर्णन की है, पाँचवें अनुवाकमें भगवद्भक्तिको पानेके लिये साधनके सकल अंगोंका वर्णन किया है, छठे अनुवाकमें भक्तिको पातेसमयके विघ्न और उनको निवारण करनेके उपायोंको बताया है, सातवें और आठवें अनुवाकमें प्रेमका स्वरूप और किस भावसे उस परमानन्दका स्वाद मिलताहै तथा उसके लिये किसप्रकारकी मानसिक पवित्रताकी आवश्यकता है, इस बातको स्पष्टरूपसे दिखाया है, नवम अनुवाकमें भगवद्भक्तके मधुरभावका वर्णन करके दशम अनुवाकमें भक्तिभावकी स्थिरताके लिये प्रतिदिन भगवान्‌के भजनकीर्त्तन और दास्य, सख्य, कान्त भाव आदि अनन्य आसक्तिके साथ भगवद्भावमेंमग्न होजानेका अमूल्य उपदेश देकर भक्तशिरोमणि देवर्षि नारदजीने जीवके परमकल्याणका उपाय

रपदिया है। यद्यपि इस भक्तिशास्त्रका एक संक्षिप्त अनुवाद मैं पहिले अपने हितैषी, श्रद्धेय, भगवद्भक्त अग्रवाल-वैश्यवंशावतंस लाला गणेशीलालजीकी प्रेरणासे लिखचुकाहूँ, जोकि-उनके ही लक्ष्मीनारायण यंत्रालयमें छपकर अनेकों भगवद्भक्तोंके करकमलोंमें पहुँचचुका है, परंतु इसबार कुछ अधिक समयके श्रमसे यह विस्तृत व्याख्या लिखकर छापी है, यदि इसको पढ़कर भगवद्भक्तोंको कुछ भी सन्तोष हुआ तो मैं अपने श्रम और समयको सार्थक समझूँगा।

निवेदक—

(ऋ० कु०) रामस्वरूप शर्मा

स० ध० प्रेस, मुरादाबाद.



❀ समर्पण ❀

श्रद्धेय मान्य स्वर्गीय लाला गणेशीलालजी !

सहोदय !

आपने अपने जीवनकालमें मेरे साथ जो २ उपकार किये, क्या किसी दूसरेसे मैं वैसी आशा कारसकता हूँ? मैं रुपये पैसे की सहायताकी बात नहीं कहता, वह तो मेरे आपके संबंधमें आनुषंगिक घटना थी, और आपका मेरे दुःख सुखमें साथी होना तो स्वाभाविक था, परंतु आपकी उत्तेजनासे यह जो मेरे द्वारा अनुवादित और सम्पादित हुए श्रीमद्भागवत उपनिषदादि अनेकों पुस्तक प्रकाशित हुए यह आपका उपकार केवल मेरे ऊपर ही नहीं किंतु हिंदीसाहित्य और धार्मिक हिंदीपाठकों के ऊपर भी है, आपने व्यापारसे विरक्त होकर एकांतसेवी होने पर भी धार्मिकोंके उपकारके लिये मेरे द्वारा 'लक्ष्मीनारायण' यंत्रालय स्थापित करके और धर्मविषयक अनेकों पुस्तकें प्रकाशित कराकर संसारको निःस्वार्थ परोपकारका ज्वलन्त दृष्टांत दिखादिया, वास्तवमें हिंदीसंसारमें मेरे नामोल्लेखके निदान आप ही हैं। यद्यपि आपके स्वर्गवासी होजाने पर

मुझे अब वैसी उत्तेजना देनेवाला दूसरा नहीं है, परंतु आपकी वही उत्तेजना मेरे हृदयमें सजीव रहकर अब भी आपका स्मरण तथा प्रेमाश्रुधाराकी वर्षा कराती हुई धार्मिक ग्रंथों का अनुवाद और अनुशीलन करनेमें मुझे प्रवृत्त करती है, इसके लिये यदि मैं आप का उपकार न मानूँ तो मुझसा कृतघ्न कौन होगा ? इसी नातेसे आज यह आपकी जीवनाधार भक्तिके निरूपक नारदसूत्रों की विस्तृत व्याख्या भक्तिभरे आनन्दाश्रुप्रवाह के साथ आपकी स्वर्गीय आत्माको अर्पण करताहूँ, क्योंकि--इस मर्त्यलोकमें जब आप मुझसे निःस्वार्थ निर्मल प्रेम करतेथे तो आशा है, कि--स्वर्गधाममें भी इस स्वर्गीय वस्तुको स्वीकार करतेहुए आप मुझे पूर्ववत् उपकृत करेंगे।

आपका वही वशम्वद--

(कं० कु०) रामस्वरूपशर्मा





॥ ॐ ॥ श्रीकृष्णः शरणं मम ॥ ॐ ॥

नारदकृत-

भक्ति-सूत्रम्

प्रथम अनुवाक

एक समय श्रीमन्नारायणावतार महर्षि कृष्णद्वैपायन वेदव्यास-जीने बदरिकाश्रममें निवास करतेहुए अपनी इच्छानुसार विचरते २ तहां आकर उपस्थित हुए देवर्षि नारदजीको देख उनका विधि-विधानसे सत्कार करके बूझा, कि-हे देवर्षे! सुख दुःख मनुष्यके अधीन नहीं हैं, किंतु मनुष्यमात्र सुख दुःखके अधीन हैं, सुखदुःख-मय संसार मनुष्यका बंधन है, मनुष्य बंधनको नहीं चाहता, इस-

लिये अनिश्चित संसारबंधनसे मोक्ष होनेकी आवश्यकता है, वह मोक्ष उपायसे साध्य है, कर्म मोक्षका साक्षात् उपाय नहीं माना-जासकता । यद्यपि ज्ञान मोक्षका साक्षात् उपायस्वरूप गिनाजाता है, तथापि भक्तिविहीन ज्ञानको शास्त्र अकिञ्चित्कर कहताहै, इसकारण परमपुरुषार्थ मोक्षकी एकमात्र साधनरूप भक्तिकी व्याख्या करिये?, तब देवर्षि नारदजी कुछ सूत्रोंके द्वारा भक्तिकी व्याख्या करनेलगे, उन नारदकृत भक्तिसूत्रोंमें पहिला सूत्र है-

अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

अथ शब्दो मङ्गलवाचकः तथाचोक्तं-ॐकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा । कण्ठम्भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिका-वुभौ । आनन्तर्यवाचको वा अथशब्दः, द्वैपायनप्रश्नानन्तरमित्यर्थः अतः भक्तेरेव परमपुरुषार्थोपायभूतत्वात्, भक्तिं व्याख्यास्यामः, भक्तिं तत्त्ववर्णनेन विवृणुमः ।

पदार्थ-(अथ) कृष्णद्वैपायनके प्रश्न करने के अनन्तर (अतः) एकमात्र भक्तिके ही परमपुरुषार्थ मोक्षका साधन होने से (भक्तिम्) भक्तिको (व्याख्यास्यामः) तत्त्ववर्णनके द्वारा विस्तारसे वर्णन करेंगे ।

(भावार्थ)—कृष्णद्वैपायन वेदव्यासजीके प्रश्न करनेपर देवर्षि नारदजीने कहा, कि—हे महर्षे ! मैं आपके प्रश्नके अनुसार परमपुरुषार्थसाधक परमप्रेमरूपा भक्तिकी व्याख्या करूँगा, आपका अवतार लोकोपकारके ही निमित्त है, आपने मुझसे जो यह भक्तिविषयक प्रश्न किया है, यह भी लोकोपकार करनेके लिये ही है। आपने अपने शिष्य जैमिनि मुनिके द्वारा पूर्वमीमांसामें कर्मजिज्ञासा और स्वयं ही उत्तरमीमांसामें ज्ञानजिज्ञासा की है। इससमय भक्तिजिज्ञासाके मिषसे मेरे मुखसे भक्तिकी व्याख्या करनेको प्रवृत्त हुए हो, यद्यपि मैं आपकी आज्ञासे भक्तिकी व्याख्या करूंगा, परंतु भक्तिकी पूर्ण वास्तविक व्याख्या आप स्वयं ही करेंगे यह मेरा भक्तिसूत्र ग्रंथ आपकी उत्तरमीमांसाके अन्तर्गत अतिसंक्षिप्त भक्तिलक्षणके व्याख्यानके स्थलमें सूत्ररूप ही गिनाजायगा आप स्वयं ही ब्रह्मसूत्रके भाष्यरूप श्रीमद्भागवतमें स्वरचित भक्तिलक्षणके व्याख्यानरूप इन मेरे भक्तिसूत्रोंकी सविस्तर व्याख्या करेंगे १

सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा ॥ २ ॥

सा व्याख्यातुमारब्धा भक्तिस्तु, अस्मिन्, विश्वव्यापिनि श्रीमन्नारायणे परमप्रेमरूपा ॥ "सा कस्मै परमप्रेमरूपा" इत्यपि पाठः। कस्मै परमेश्वराय, परमेश्वरः सदा पूर्णानन्दत्वात्कि शब्देनोच्यते, तथा

चोक्तं महाभारते विष्णुसहस्रनामसु-नैकः सर्वः सवः कः किमिति ॥

पदार्थ-(सा--तु) हम जिस भक्तिकी व्याख्या करेंगे वह तो (अस्मिन्) परमेश्वरमें (परमप्रेमरूपा) परमप्रेमस्वरूप है ।

(**भावार्थ**)-भक्ति शब्द भज् धातुसे क्तिन् प्रत्यय लगाकर बनता है, भज् धातुका अर्थ सेवा करना वा अनुशीलन है, परतत्त्व का रुचिकर भावमय और चेष्टामय अनुशीलन ही भक्तिका स्वरूप लक्षण है, यह अनुशीलन उपाधिरहित हो तो इसको उत्तमा भक्ति कहते हैं, स्वरूपसिद्धा केवला शुद्धा आदि उत्तमा भक्तिके ही नाम हैं, यह उत्तमा भक्ति साध्य और साधन भेदसे दो प्रकार की है एक साध्यरूपा दूसरी साधनरूपा । साध्यभक्ति प्रेममयी वा भावमयी है, और इस साध्यभक्तिको प्रकाशित करनेवाली चेष्टामयी भक्ति ही साधनभक्ति है । भावशब्दका अर्थ रति है, यद्यपि शान्त आदि भेदसे रति पांच प्रकारकी है, परन्तु कान्तारति सर्वोपरि है । यह रति भी मिश्रा और केवला दो प्रकारकी है । केवला रति मिश्रा रतिसे स्वाभाविक ही श्रेष्ठ है, इसीसे सूत्रमेंके परमप्रेम शब्दका अर्थ केवला कान्तारति है अर्थात् केवला कान्तारति वा परमप्रेम भक्ति शब्दका अर्थ है । गोपालतापिनी उपनिषद्की श्रुति कहती है, कि-"भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैरास्येनामुष्मिन्मनःकल्पन-

मेतदेव नैष्कर्म्यम्" । अर्थात् श्रीकृष्ण नामक परतत्त्वका भजन चाहिये अनुकूल श्रवण आदिकी चेष्टारूप अनुशीलन और उस श्रीकृष्णनामक परतत्त्वमें मनःकल्पन अर्थात् अनुकूल श्रवण आदिकी चेष्टायुक्त अन्यप्रकारके विश्वाससे रहित सजातीय विश्वास का प्रवाहरूप भावमय अनुशीलन भक्तिका स्वरूपलक्षण है, उपाधिरहित होना उसका तटस्थ लक्षण है। उपाधिशब्दका अर्थ है, इस लोककी भोगाभिलाष और पारलौकिक मोक्षाभिलाष। भोगाभिलाषका साधन कर्म और मोक्षाभिलाषका साधन ज्ञान है। इससे सिद्ध हुआ कि-जिसमें कर्मका वा ज्ञानका मिश्रण न हो वह भक्ति ही उपाधिरहित तटस्थलक्षणा भक्ति है। कर्म और ज्ञानके मिश्रण विना भी भक्ति मोक्षकरी है, क्योंकि-मोक्ष तो भक्तिका आनुषंगिक फल सिद्ध होताहै। इसप्रकार नारदजीका कहा हुआ भक्तिका लक्षण श्रुतिके साथभी मिलताहुआहै॥*॥ अनादि परतत्त्व परमात्मासे विमुख होनेके कारण मायासे आच्छन्न हुआ मनुष्य, देहको ही आत्मा माननेके अनन्तर देहके दुःखसे मोहित होकर और विषयभोगसे खिचकर संसारचक्रमें घूमा करता है। जब स्वयं ही किसी मनुष्यकी उन विषयोंकी ओरको खिचावटसे कुछएक निवृत्ति होतीहै उसी समय परतत्त्वकी विमुखता दूर

होकर परतत्त्वके सन्मुख होनेमें प्रवृत्ति होतीहै अर्थात् विषयभोगका आकर्षण होतेहुए भी सौभाग्यवश शास्त्रमें वर्णित परमेश्वर, आत्मा परलोक और कर्मफल आदिमें विश्वासके साथ उसका चित्त, क्रमसे अन्तर्मुख होनेलगताहै, इन ही विषयोंका विचार धीरे २ बढ़ने लगताहै, उस विचारके फलसे साधुसङ्ग होताहै, उसविचारके द्वारा वैराग्य होनेपर ज्ञानी का संग होताहै और उससे उत्पन्न हुए कारुण्यभावसे भक्तका संग होताहै, साधु ज्ञानी होने पर उसके साथ २ मोक्षकी इच्छा होतीहै और भक्त होनेपर उसके साथ२ भक्तिकी इच्छा बलवती होतीजातीहै और इसप्रकार भक्तिकी इच्छा बलवती होनेपर दीनता और निरपेक्षताके साथ भजनक्रिया वा परतत्त्वविषयक श्रवण कीर्त्तनादि रूप अनुकूल चेष्टाका उदय होताहै यह चेष्टा ही साधनभक्तिहै ।

साधनके पकजाने पर अनर्थकी निवृत्तिके बाद निष्ठा आदिके क्रमसे भाव प्रकट होताहै, भावका परिपाक होजाना वा दृढता ही प्रेम है । कान्ताप्रेम ही हमारे प्रेमकी पराकाष्ठा है, इसकारण उसको ही परमप्रेम शब्दसे कहसकतेहैं और वह परमप्रेम ही भक्तिका स्वरूपलक्षण है, अन्य प्रेम उपलक्षण हैं । प्रेम भगवान्‌की स्वरूपशक्तिकी एक वृत्ति है, उसको भगवान् के नित्यसिद्ध सेवक अपनी सम्पत्ति

समझते हैं, वह नित्यधामके नित्यसिद्ध भगवत्पारिषदोंकी सम्पत्ति होनेपर भी श्रीभगवान्के अनुग्रहसे देवनदी गंगाके प्रवाहकी समान संसारमें आकर और शुद्ध जीवोंके स्वभाव के साथ एकाकार होकर उनकी स्वाभाविक वृत्ति के रूपमें वहरही है । कहा भी है, कि–"देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम् । सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या ॥ अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी । जरयत्याशु या कोषं निगीर्णमनलो यथा ॥" अर्थात् प्रकृतिके तीनो गुण जिनकी उपाधि है और वेदपुराणादिमें जिनके कर्मोंका वर्णन है उन तीनों देवताओंमें अधिष्ठानके द्वारा सत्त्वगुणका उपकार करनेवाले श्रीविष्णुभगवान्में अनन्यचित्तसे पुरुषकी जो स्वाभाविक वृत्ति होतीहै अर्थात् अनुकूलतादिरूप एकप्रकारका ज्ञान होताहै उसका ही नाम भागवती भक्ति है । वह स्वरूपशक्ति की वृत्ति होनेपर भी विषयसौन्दर्यके कारण बिना यत्नके शुभभक्त के स्वभाव के साथ एकाकार होकर प्रकाशित होने पर ही उसको जीवशक्ति की स्वाभाविक वृत्ति कहते हैं, उसमें किसी फलकी अभिलाषा नहीं रहती, वह मोक्षपर्यन्त सब प्रकारकी सिद्धियोंसे बडी है, जैसे पेटमेंकी जठराग्नि पेटमें पहुँचे हुए सकल पदार्थोंको पचाकर जीर्ण करदेती है तैसे ही वह वृत्ति जीवके अन्नमयादि सकल कोषोंको शीघ्र ही जीर्ण करदेती है । भागवती भक्ति स्वरूपशक्तिकी वृत्ति

है, जीवशक्तिकी वृत्ति लौकिकी भक्ति है, यह लौकिकी भक्ति ही स्वाभाविक वृत्ति है। इस वृत्तिके साथ एकाकार होकर प्रकाशित होतीहै, इसीसे भागवती भक्तिको भी जीवकी स्वाभाविक वृत्ति कहा है। भक्त और भजनीयका परस्पर सम्बन्ध होनेसे ही भक्तिका प्रकाश होताहै। लौकिकी भक्तिके मूलमें लोकसम्बन्ध है और भागवती भक्तिकी मूलमें भगवत्सम्बंध देखनेमें आता है। लोक-संबन्ध दास्यभाव आदिस्वरूपहै, भगवत्संबंध भी ऐसा ही है। कितने ही पुरुष समझते हैं, कि—अलौकिसम्बंध लौकिकसंबंधसे अन्यप्रकारका ही होगा, परन्तु हम ऐसा नहीं मानते, क्योंकि लोक अलोकसे सर्वथा भिन्न नहीं है, लौकिकसंसार अलौकिक संसारके ही अनुरूप है, जीवका संसार भगवत्संसार की ही छाया है। भगवान्ने जैसे जीवको प्रायः अपनी सदृश रचा है तैसे ही जीवके संसारको भी अप्राकृत संसारके अनुरूप ही रचाहै। केवल वह पूर्ण है, जीव अपूर्ण है। उनका संसार अप्राकृत है, जीवका संसार प्राकृत है, इतना ही भेद होनेपर भी परमेश्वरका अंशभूत जीव जिस उपायके द्वारा प्राकृत संसारमें से अप्राकृत संसार में पहुँचेगा, वह उपाय प्राकृत और अप्राकृत दोनोंके सन्धिस्थान में स्थित है। वह उपाय प्राकृत होकर भी अप्राकृत और अप्राकृत होकर भी प्राकृत है तथा वह प्राकृत और अप्राकृतका

एकीभावरूप है, इसमें कुछ भी संदेह नहीं होसकता। यह उपाय ही भक्ति है। भक्ति जीवका नेत्र है, वह ज्ञानका सार विज्ञान है, वह हृदयरूप खानमें स्थित स्वच्छ रत्न है। देखनेयोग्य वस्तुके साथ चक्षुका, जाननेयोग्य वस्तुके साथ विज्ञानका और क्रययोग्य वस्तुके साथ रत्नादिका जो संवन्ध है, भक्तिके साथ भगवान्का वही संवन्ध है। जीव भक्तिके द्वारा ही भगवान्को देखता, जानता और खरीदलेता है। जीव भक्तिकी सहायता से ही प्राकृत संसारके साथ भगवत्संसारका संबन्ध स्थापन करता हुआ प्राकृतसंसारमें ही भगवत्संसारको लेआता है अथवा प्राकृत संसारको लाँघकर भगवत्संसारमें प्रवेश करता है। इसमें संदेह नहीं है, कि-भक्ति परतत्त्वमें प्रवेशका प्रथम द्वार है, परतत्त्वमें चढ़नेकी पहिली सीढी है, ऐसा होनेपर भी क्या कोई यह कहसकता है, कि-भक्ति शेष द्वार, भक्ति अन्तिम सोपान वा भक्ति सबसे ऊँची सीढी नहीं है ?। भक्ति ही आदि है, भक्ति ही अन्त है, वही जीवका सबसे पहिला आलंबन है और वही जीवका अन्तिम आश्रय है, भक्तिके विना परतत्वके समीप नहीं पहुँचसकता। परतत्वके होनेका विश्वास उत्पन्न कराकर भक्ति निवृत्त होजाती है और वह आगेको नहीं बढ़सकती, ऐसा समझना भ्रांति है, ऐसा

विश्वास तो साधारण ज्ञानसे ही होजाताहै, जो ज्ञान परतत्वके होनेका विश्वास कराता है, भक्ति उसका सारांश है। ज्ञान भूयो-दर्शनकी परीक्षाका फल--तर्कयुक्तिके ऊपर स्थित है, यह ज्ञान आस्तिकमात्रको होताहै, परन्तु यह नियम नहीं है, कि--कोई आस्तिक होनेसे ही भक्त होजाय। भक्तिके वास्तविक अर्थमें बहुत ही थोड़से आस्तिक देखेगए हैं। श्रीभगवान्‌का साक्षात्कार, उनके साथ मिलन और उनके संसारमें प्रवेश बहुत ही थोड़े आस्तिकों के भाग्यमें होता है। क्या हम सबोंने ही श्रीभगवान्‌को देखा है? यदि नहीं देखा है, यदि हमको उनका साक्षात्कार नहीं हुआ है तो हम कैसे कहैं, कि--हममें भक्ति है और हम परमात्माके भक्त हैं? हम निरन्तर अपने सामने जिन पदार्थोंको देखते हैं उनके प्रत्यक्षमें क्या हमको कुछ संशय होता है? जिनको देखनेकी शक्ति नहीं है उनके सिवाय और कोई भी कभी प्रत्यक्ष में सन्देह नहीं करसकता, क्योंकि--वह हमारा इन्द्रियजन्य ज्ञान है, उसमें तर्ककी आवश्यकता नहीं है, हमारी इंद्रियें ही उस ज्ञानकी साक्षी हैं, इंद्रियें ही प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। इस प्रत्यक्ष संसारके होनेमें हमको जैसा विश्वास है, श्रीभगवान् के वा उनके गुणसमूहके होनेमें क्या हमको वैसा विश्वास है? इन्द्रियें जैसे सकल प्रत्यक्ष पदार्थोंका

अनुभव करती हैं, हमारा आत्मा क्या उसी प्रकार सच्चिदानन्दमय परमात्माका प्रत्यक्ष करता है? हमको ईश्वरके अस्तित्वमें विश्वास है, इस बातको मानते हैं, परंतु वह विश्वास ही भक्ति है, यह बात नहीं मानसकते, यह विश्वास भक्तिराज्यमें प्रवेश करने का द्वार है, विश्वासवाला पुरुष ही भक्तिका अधिकारी है, हमारे ज्ञानमें परमात्माका अस्तित्व होनेपर भी भक्तिके विना हमारे आत्मामें परमात्माका साक्षात्कार नहीं होसकता, यदि वास्तवमें हमको परमपुरुषार्थको पानेके लिये आग्रह है तो केवल उनके अस्तित्वकी धारणामात्र से हमारी तृप्ति कदापि नहीं होसकी, उसकी सिद्धिके लिये शक्तिमान् लालिमय परमपुरुषका अनुभव होना चाहिये।

हम परम पुरुषार्थको साधनके लिये ज्ञान कर्मादि अनेकों साधनोंका अनुष्ठान करतेहैं, परंतु भक्तिके विना सब साधन वृथा हैं क्योंकि—एक भक्तिही उसका साधन है। हम नियमके साथ धर्मचर्चा करसकते हैं, अनेकों अनुष्ठानोंमें लगसकतेहैं, परंतु भक्तिके सामने वह कुछ भी नहीं हैं। हम सैकड़ों शास्त्रोंकी आलोचना करसकते हैं, अनेकों नियमोंको पालसकते हैं, परंतु यह सब हमारे परमपुरुषार्थके साधनमें विशेष अनुकूल नहीं हैं, यदि यह हमारी परमपुरुषार्थसिद्धिमें विशेष सहायक होते तो हम वारंवार खाली

हाथों और शून्यहृदयसे घरको लौटकर न आते अर्थात् इन सकल अनुष्ठानोंको करके फिर मायाजालमें न जकड़ेजाते और विषयोंके अन्धकूपमें न गिरते, उधर जिस हृदयमें भक्तिका कणमात्र भी उदय होजाताहै, वह हृदय फिर कभी शून्य देखनेमें नहीं आता, उस हृदयवालेको फिर कभी विषयासक्त होते नहीं देखागया, भक्तके हृदयसे किसी दिन भी परमात्माका पवित्र आविर्भाव दूर नहीं होता, भक्तके संसारकी हरएक वस्तुमें परमात्मा की छवि प्रतिबिंबित होतीहै। यह ठीक है, कि-प्रलोभनमयी प्रकृति जीव को सदा अपनी ओरको खेंचकर परमात्मासे बहिर्मुख करदेती है, जीव प्रकृतिके परदेसे आवृत होकर चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार देखताहै, परन्तु भक्तिका उदय होनेपर वह भाव सर्वथा बदलजाताहै, उसका उदय होनेपर जीवकी सब ही वृत्तियें अन्तर्मुखी होजाती हैं, उससमय प्रकृतिका परदा आपसे आप ही हटजाता है, परमात्माके प्रकाशसे हृदयका घोर अन्धकारमय प्रदेश भी आलोकमय होजाताहै, उससमय दुःखमय संसार सुखमय भासनेलगता है उससमय सबप्रकारके संदेह और सब प्रकारकी वासनाएं उखड कर दूर जापडती हैं, उससमय ज्ञानकर्म आदिका आवरण इधर उधर को विच्छिन्न और विध्वस्त होजाताहै, भक्ति दूरवर्ती परमात्माको

समीवर्त्ती करदेतीहैं, वह किसीसे न जीतेजानेवाले परमात्माको भक्त के वशमें करदेती है। भक्तिका उदय होनेपर सब ही चेष्टाएं प्रतिकूलता छोड़कर अनुकूल होजातीहैं, उस समय संसारमें आसक्ति न होने पर भी संसारका विद्वेषरूप वैराग्य हृदयमें स्थान नहीं पाता, क्योंकि--उससमय संसार सुख शांतिका मंदिर होजाता है। उस समय संसारका विद्वेषरूप वैराग्य न होने पर भी दीनता और निरपेक्षताके कारण संसारका डरावना आकर्षण न होनेसे अहं ममाभिमानमूलक संसारबंधन आपसे आप ही शिथिल होजाता है। उस समय उसके चित्तमें परमात्माके सिवाय और किसीको स्थान नहीं मिलता, अतः भगवत्संगके लिये भक्तिके सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है। प्रकृतिके आकर्षणसे जो परमात्माका विस्मरण होजाता है, वह भक्तिके उदय से दूर होजाता है, क्योंकि-उससमय ईश्वर चित्तराज्यपर अधिकार जमाकर ही विराजमान होते हैं, यह भक्ति केवल अप्रत्यक्ष परमेश्वरका इस प्रकार प्रत्यक्ष कराकर ही शांत नहीं होजाती है, किंतु जीवको ईश्वरमें और ईश्वरको जीवके हृदयमें स्थित करती है भक्तका हृदय परमात्माका नित्य निवासस्थान है इसीसे भक्तके हृदयमें और किसी को स्थान नहीं मिलता। इन सब कारणों से ही भक्तिके सिवाय जीवका हृदय सहजमें शुद्ध

करनेका और कोई उपाय देखनेमें नहीं आता, भक्तिका उदय होनेसे वह आपसे आप ही शुद्ध होजाताहै । उससमय दायें, बायें, सामने, पीछे, ऊपर, नीचे सर्वत्र यदि परमेश्वर की मूर्तिका ही दर्शन करनेलगा, इसके सिवाय और कुछ भी यदि मेरी चाहनाकी और चित्ताकर्षणकी सामग्री नहीं रही, तब स्वयं ही आत्मरक्षा होगई, डरावने सांसारिक प्रलोभनसे मैंने अपनी रक्षा करली, यदि परमेश्वरके प्रियतम होनेकी भावना नहीं करसकेगा तो और किसीप्रकारसे भी सकल आकर्षणोंसे समस्त संसारबंधनोंसे नहीं छूटसकेगा और परमपुरुषार्थ की प्राप्ति भी नहीं करसकेगा । यदि देह, गेह, विषय, वैभव, माता, पिता, स्त्री, पुरुष, बंधु, बान्धव आदि सबके ही विषयका प्रेम परमात्माको अर्पण नहीं करसकेगा, तो उनको अपना प्रियतम भी नहीं मानसकेगा । जितनी भक्ति होगी उतना ही परमात्माका ज्ञान होगा और उतनी ही अन्यत्र की आसक्ति कम होगी, इसीलिये देवर्षि नारदजीने भक्तिका लक्षण किया है, कि-परमेश्वरमें परमप्रेम ही भक्ति है । इसीकारण दैत्यकुलपावन प्रह्लादजीने श्रीनृसिंहदेवसे याचना की थी, कि—हे नाथ ! ऐसी कृपाकीजिये कि—सकल अविवेकी पुरुषोंमें जो अनपायिनी प्रीति देखनेमें आतीहै, आपके स्मरण आदिमें मेरी वह प्रीति

ही हृदयमें स्थित होय उससमय वह मेरे हृदयमें से दूर न हो अर्थात् मैं साधनाकालमें सब प्रकारका प्रेम आपको ही अर्पण करसकूं ॥ २ ॥

अमृतस्वरूपा च ॥ ३ ॥

पदार्थ-(अमृतस्वरूपा-च) अमृतस्वरूप भी है ॥

भावार्थ-वह परमप्रेमरूपा भक्ति अमृतरूप है। समुद्रमन्थन के समय निकली हुई, रोग शोक-जरा--मरणादि नाशक, देवताओं के भोगनेयोग्य एक परमौषधका नाम अमृत है। भक्ति इस ही अमृतके तुल्य है। परमात्माकी लीलारूप समुद्रको मथनेसे यह प्रेम रूप अमृत उत्पन्न होताहै, वह परमात्माके प्रेमी साधुजनोंके भोगने योग्य है, इसके सेवनसे सम्पूर्ण भवरोगका नाश होताहै। आध्यात्मिक आधिदैविक और आधिभौतिक तीनों प्रकारके ताप शान्त होतेहैं, और वारंवार जन्ममरणादिरूप संसारका आवागमन विलीन होताहै। जीव पापरहित, जरारहित, मृत्युरहित, शोकरहित, क्षुधारहित, तृष्णारहित, सत्यकाम और सत्यसङ्कल्प होताहै, इसप्रकार यद्यपि प्राकृत अमृतसे इसका बडाभारी भेद है, तथापि और कोई दृष्टान्त न होनेसे इसको प्राकृत अमृतके तुल्य कहा है ३

यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवत्यमृतो भवति तृप्तो भवति ॥ ४ ॥

यत्-प्रेम, लब्ध्वा-प्राप्य, पुमान्-जीवः, सिद्धः-साधनान्तरप्रयोजनराहितः। अमृतः-अमरत्वधर्मा, तृप्तः-ऐहिके पारलौकिके च सुखे वितृष्णः, भवति-सम्पद्यते ॥

पदार्थ-(यत) जिस भक्तिको (लब्ध्वा) पाकर (पुमान्) जीव (सिद्धः) सिद्ध (भवति) होता है (अमृतः) अमर (भवति) होता है (तृप्तः) तृप्त (भवति) होता है ॥

भावार्थ-प्राकृत अमृतको पाकर ही देवता अपनेको सिद्ध, अमर और तृप्त मानलेतेहैं, परंतु वास्तवमें देवता उस अमृतसे सिद्ध अमर वा तृप्त नहीं होते, यदि होते तो उनमें किसी पदार्थका अभाव, ईर्षा, द्वेष, भय और असन्तोष आदि देखनेमें नहीं आता परन्तु स्वर्गमें इन सब दोषोंका होना चिरकाल से पुराण आदि में प्रसिद्ध है, इसके सिवाय वास्तविक ज्ञानी पुरुष स्वर्गसुखको त्याज्य आकिंचित्कर और क्षणभंगुर विचार कर उससे श्रेष्ठ सुखको पानेके लिये चेष्टा करते हुए देखनेमें आते हैं तथा उनका ऐसा करना सफल भी होताहै, परन्तु परमात्माके प्रेमको पाकर कोई भी भक्त

अपनेको असिद्ध, मृत वा अतृप्त नहीं मानताहै, भक्तिका उदय होनेपर जीवको और किसी साधनकी आवश्यकता नहीं रहती मुक्ति स्वयं ही आकर उसकी सेवा करती है उसको परमानन्दकी प्राप्ति होती है, इसकारण उसको इसलोक परलोकके किसी सुखभोगकी वासना नहीं रहती है, इसकारण यह मानना होगा कि-प्रेमलाभ ही जीवको स्वरूपसम्पत्तिकी प्राप्ति है ॥ ४ ॥

यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति ॥ ५ ॥

यत् प्रेम, प्राप्य लब्ध्वा, किञ्चित् ऐहिकमामुष्मिकम्वा वस्तु न वाञ्छति अभिलषति, न शोचति चिन्ताकुलो भवति, न द्वेष्टि नान्यत्र रमते नान्यार्थमुत्साही उद्युक्तः भवति ॥

पदार्थ-(यत्) जिस प्रेमको (प्राप्य) पाकर (किञ्चित्) कुछ (न) नहीं (वाञ्छति) चाहताहै (न) नहीं (शोचति) शोक करताहै (न) नहीं (द्वेष्टि) द्वेष करताहै (न) नहीं (रमते) आसक्त होताहै (न) नहीं (उत्साही) उत्साहवाला (भवति) होताहै ॥

(भावार्थ)—इस संसारमें सुख पानेके लिये बहुतों को

अनेकों प्रकारका कर्म करतेहुए देखते हैं, परन्तु उन कर्मोंको करके भी किसीको शान्ति पातेहुए नहीं देखते और यह आशा भी नहीं है, कि—उनमेंका कोई शान्ति पाजाय। उधर भगवत्प्रेमीको अवश्य ही शान्ति मिलती है, क्योंकि--इच्छा द्वेषादि मनमें हुआ करतेहैं परंतु भक्तिका उदय होनेपर मन तो भगवान्के चरणोंमें अर्पित और विलीन होजाताहै, इसप्रकार जब मनकी क्रिया और चेष्टा ही न रही तब शोक मोह आसक्ति उत्साह आदि मनकी तरंगें अपने आप ही विलीन होजायँगी ॥ ५ ॥

यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवत्या-त्मारामो भवति ॥ ६ ॥

न केवलं कर्मतएव श्रेष्ठयं किंतु ज्ञानतोऽपि ज्यैष्ठ्यमित्याह यदिति। यत् प्रेम, ज्ञात्वा अनुभूय, मत्तः उन्मत्तः, स्तब्धः निश्चेष्टः, आत्मारामः आत्मरतः, भवति।

पदार्थ (यत्) जिस प्रेमको (ज्ञात्वा) अनुभव करके (मत्तः) उन्मत्त (भवति) होताहै (स्तब्धः) चेष्टारहित (भवति) होता है (आत्मारामः) आत्माराम (भवति) होताहै ॥

भावार्थ—प्रेम भक्तमें अन्धापन नहीं लाता, किंतु जीवको अपने स्वरूपका अनुभव कराकर रागोन्मत्त, अन्य विषयोंमें उद्योग

रहित और आत्माराम करदेताहै अर्थात् जब भक्तके हृदयमें प्रेम का उबाल उठताहै उससमय उसका शरीर रोमाञ्चित, नेत्र अश्रुओंसे पूर्ण और स्वर गद्गद होजाताहै, भक्त जिससमय निर्लज्जकी समान ऊँचे स्वरसे गाता और नाचता है उससमय प्रेतबाधावाले पुरुषकी समान विकट हास्य करता और चिल्लाता है, कभी वारं वार लंबी २ श्वासें लेकर "श्रीकृष्ण! नारायण! वासुदेव" आदि नामोंका उच्चारण करताहै, कभी मग्न हुआ जड़की समान निश्चल बैठजाताहै और कभी अपनेमें आप ही मतवाला होकर परमानन्द को भोगताहै। यही बात श्रीमद्भागवतमें भक्तशिरोमणि प्रह्लादजीने दैत्यबालकोंको उपदेश देते समय कही है, कि–"निशम्य कर्माणि गुणानतुल्यान् वीर्याणि लीलातनुभिः कृतानि। यदातिहर्षोत्पुलकाश्रु गद्गदं प्रोत्कण्ठ उद्गायति रौति नृत्यति ॥ यदा ग्रहग्रस्त इव क्वचिद्धसत्याक्रंदते ध्यायति वंदते जनम्। मुहुः श्वसन् वक्ति हरे जगत्पते नारायणेत्यात्मगतिर्गतत्रपः॥ तदा पुमान् मुक्तसमस्तबंधनस्तद्भावभावानुशयाकृताकृतिः। निदग्धबीजानुशयो महीयसा भक्तिप्रयोगेण समेत्यधोक्षजम्॥" अर्थात् भक्तजन भगवान् के अनेकों, लीला करकै धारण कियेहुए स्वरूपोंके कर्म, अनुपम गुण और पराक्रमोंको सुनकर जब हर्षसे पुलकित, नेत्रोंमें आनन्दाश्रु भरेहुए गद्गदकण्ठ

होजाते हैं उससमय बडे ऊँचे स्वरसे गाते, नाचते और रोते हैं, कभी प्रेतग्रस्त मनुष्योंकी समान हँसते और चिल्लाते हैं, कभी वार २ लंबी सांसे लेकर हरे ! नारायण ! जगत्पते ! आदि नाम लेतेहुए लज्जाको छोडकर कीर्त्तन करते हैं जब ऐसी गति होजाती है तब जीव सब बंधनोंसे छूटकर भगवान्‌की भक्तिमें भरा उनकी लीलाके अनुकरण चेष्टा आदि करनेलगताहै और भक्तिके प्रभाव से सुकर्म दुष्कर्मोंके वीजोंको जलाकर भगवान्‌को प्राप्त होताहै, उस परमप्रेमरूपा भक्तिको पानेका यही लक्षण है, कि—मनुष्य पागलसा, निश्चेष्ट और आत्माराम अर्थात् संसारके विषयोंमें प्रीति छोडकर ईश्वरमें ही सदा रमण करता है । यद्यपि जीव ज्ञानकी प्राप्तिसे भी आत्माराम होसकताहै, परन्तु वास्तविक आत्माराम प्रेमी भक्त ही है, क्योंकि--ज्ञानियोंको भी भगवान्‌के गुणोंसे आकृष्ट होकर भगवान्‌में अहैतुकी भक्ति स्थापन करनेकी चेष्टा करनी पड़ती है । ज्ञान विनातरङ्गोंके समुद्रकी समान है और प्रेमसागरमें सदा तरंगें उठती रहती हैं, अतएव ज्ञानी पुरुष प्रेमी भक्तोंकी समान प्रेमससागरमेंकी तरंगोंमें आंदोलित होनेके लिये यत्न करते हैं, परन्तु प्रेमी भक्तको और कुछ यत्न नहीं करना पड़ता वह सदा ही भगवानकी लीलारूपी तरंगोंमें स्नान करताहुआ उसमें ही

उन्मत्त उससे अन्य विषयोंमें चेष्टारहित और उसमें ही तृप्त रहकर आत्माराम शब्दको सार्थक करता है ॥ ६ ॥

द्वितीय अनुवाक

सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात् ॥ ७ ॥

सा परमप्रेमरूपा भक्तिः, कामयमाना मनस्कामनापूरणाय, सकामा न, यतो निरोधरूपा ॥

पदार्थ-(सा) वह भक्ति (निरोधरूपत्वात) निरोधस्वरूप होनेसे (कामयमाना) किसी कामनाको पूर्ण करने के लिये सकाम (न) नहीं है ।

भावार्थ--प्रेम साध्यरूप, साधनाका फल है । श्रवण आदि प्रेमका साधन है । प्रेम श्रवण आदि साधन भक्तिके द्वारा साध्य होनेपर भी प्रेमसाधनीभूता भक्तिको सकाम नहीं कहाजासकता, क्योंकि--सब प्रकारकी फलकामनाओंका त्यागरूप निरोध, साधन भक्तिमें प्रवेश करनेका द्वार है । जब फलत्याग ही जिसमें प्रवेश करनेका द्वार है, फलको ईश्वरार्पण करना ही जिसका प्राण है तब वह कदापि सकाम नहीं होसकती । फलको पानेके उद्देश्यसे किया हुआ कर्म ही सकाम होताहै; यज्ञादि कर्म फलके

उद्देश्यसे किये जातेहैं, इसीसे सकाम कर्म कहाते हैं। कामनाओं को पूरी करनेके लिये भक्ति करना तो केवल वणिग्वृत्ति (लौकिक व्यापार) है। भगवान्‌ने नृसिंहमूर्त्ति में प्रकट होकर भक्त प्रह्लादजीसे कहाथा, कि—बेटा ! वर माँगो, इस पर प्रह्लादजीने हाथ जोड़कर उत्तर दिया, कि–"यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्" अर्थात् हे प्रभो ! मैं व्यापारी नहीं हूँ मैं तो आपका भक्त हूँ, जो पुरुष आपसे सेवाके बदलेमें इसलोक वा परलोकका विषयसुख चाहताहै वह आपका सेवक नहीं है, किंतु लेनदेन करनेवाला व्यापारी है। और यदि आप वर देना ही चाहतेहैं तो यह कृपा कीजिये, कि–मेरे चित्तमें राज्यभोग वा स्वर्गीयसुखभोग आदि किसी विषयकी वासना उत्पन्न न हो। यही बात भगवान्‌ने कही भी है, कि–" न मय्यावेशितधियां कामः कामया कल्पते। भर्जिताः क्वथिता धाना भूयो बीजाय नेष्यते " अर्थात् जिन्होंने अपनी बुद्धियें मुझमें ही लगादी हैं उनकी इच्छा किसी विषयफलको नहीं चाहती, क्योंकि–भूने वा पकायेहुए धानों से अंकुर नहीं उगसकता।इसप्रकार जब कि--इंद्रियोंसे भोग्य किसी भी ऐहिक वा पारलौकिक सुखको पानेकी इच्छासे कीहुई प्रीतिको भी हम प्रेम नहीं कहसकते तब जो लोग स्वार्थवश किसीसे प्रीति

कर के यह कहते हैं, कि-हम प्रेम करते हैं, उनको लज्जित होना चाहिये क्योंकि--वास्तव में प्रेम उसको ही कहसकते हैं जिसमें कोई कामना न हो। इंद्रिय, मन और प्राण आदि के निरुद्ध अर्थात बाहरी व्यापारसे हटेबिना वास्तविक प्रेम वा भक्तिका उदय नहीं होता। चित्त आदिकी वृत्ति अपने २ स्थानमें रुकजाने पर भोगकी वासना उठती ही नहीं, इस निष्काम अवस्थामें ही अन्तःकरणमें भक्तिका प्रवाह विष्णुपादोदकी गङ्गाकी समान तरल वेगके साथ बहनेलगता है। अथवा भगवान्की कृपा सद्गुरुकी कृपा और अपना सौभाग्य इन तीन डोरियोंकी वट लगजाने पर जीवका संसारकी ओरको रहना बँधजाता है और भगवान् के भावसूत्रमें निरुद्ध होजाता है। यह निरोध छः प्रकारका है अर्थात् परमात्मामें छः प्रकारकी भावना करनेसे जीवका चित्त संसारकी ओरसे हटकर परमात्माकी ओर जाकर ठहरने लगता है। वह छः भावना वा निरोध यह हैं पहिला मातिभावानिरोध, अर्थात्--संसारकी यंत्रणायें और वासनाओंसे व्याकुल होकर भगवान्की शरण लेना। दूसरा स्वामिभाव निरोध, अर्थात्--भगवान् ही जगत्के प्रभु हैं, मैं उनका दास हूँ, इस प्रकार भगवान्की शरण लेना। तीसरा सर्वभावानिरोध, अर्थात् छोटेसे छोटे और बड़ेसे बड़े जगत्के चेतन अचेतन सब ही पदार्थ

ईश्वर हैं, पिता, माता, भ्राता, पुत्र, स्त्री, पुरुष शत्रु, मित्र सब ही ईश्वर है, ऐसा समझकर सर्वत्र उनकी ही झाँकी करना। चौथा सख्य भावनिरोध, अर्थात्--विपत्तिमें, सम्पत्तिमें सुखमें, दुःखमें सदा ही परमात्मा मेरे सहायक हैं, वह दीनबन्धु हैं, ऐसे सखाभावसे उनका अनुगामी होना। पांचवां वात्सल्यभाव निरोध, अर्थात्-पुत्रकी समान प्राणोंकी मूर्त्ति मानकर उनका आदरकर तन्मयताके साथ स्नेह करना और छठा कांतभावनिरोध, अर्थात् मेरे मनकी प्रकृति नारी है और भगवान् पुरुष--पति हैं इस भावसे उनमें मग्न होजाना। इनमेंसे किसी एक निरोधके अधीन होजाने पर जीवकी कामनाएं आप ही रुकजाती हैं और आपसे आप हृदयमें परमात्मा का आविर्भाव होता है, जो सर्वत्रसे मनको हटाकर उनको भजेंगे उन के सकल दुःख दूर होकर परमानन्दकी प्राप्ति होगी ही, यही बात भगवान्ने गीतामें अर्जुनसे कही है, कि-"कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति। तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्॥" अर्थात्-भगवान् कहते हैं कि-हे अर्जुन! निश्चय रक्खो, कि-मेरा भक्त नष्ट नहीं होता, क्योंकि-अपने भक्तोंका मृत्युसंसारसागरसे उद्धार करनेवाला मैं हूं॥ ७॥

निरोधस्तु लोकवेदव्यापारन्यासः॥ ८॥

लौकिकानां वैदिकानाञ्च व्यापाराणां कर्मणां, न्यासः त्यागः, निरोध इत्युच्यते ॥

पदार्थ-(निरोधः-तु) निरोध तो (लोकवेदव्यापारन्यासः) लौकिक और वैदिक सकल व्यापारोंका त्याग है ॥

भावार्थ-अंतःकरण और इन्द्रियों की सकल वृत्तियोंके वाहरी चेष्टाको त्यागदेने पर अथवा ईश्वरकी शरणागत होकर मनुष्यकी अन्य चेष्टाएं न रहने पर लौकिक व्यवहार वा वैदिक व्यवहार किसी कर्ममें भी भक्तकी प्रवृत्ति नहीं होती भक्त निष्क्रिय और धर्म अधर्मके अनुष्ठानसे रहित होता है, इसीसे कहते हैं, कि-आहार विहार आदि लौकिक कार्य और यज्ञ आदि वैदिक कार्यके त्यागको निरोध कहते हैं। यहां कर्मके त्यागसे कर्मफलका त्याग समझना क्योंकि--सब प्रकारके कर्मका सर्वथा त्याग होना तो असंभव:है, इसलिये फलकी कामनारहित कर्मानुष्ठानका नाम ही निरोध है, वास्तविक ईश्वरभक्तका कोई कर्म स्वार्थके लिये नहीं होता, किंतु परार्थ, भगवत्प्रसन्नतार्थ होता है, इसीसे भक्तके निष्काम कर्मको ही निरोध कहाजासकता है ॥ ८ ॥

तस्मिन्ननन्यता तद्विरोधिषूदासीनता च ॥ ९ ॥

तस्मिन् प्रेमसाधने, अनन्यता तन्मयता, तद्विरोधिषु विषयेषु, उ-

दासीनता अप्रवृत्तिश्च निरोध इत्युच्यते ॥

पदार्थ--(तस्मिन्) तिस प्रेमसाधनमें (अनन्यता) अनन्य भाव (च) और (तद्विरोधिषु) तिसके विरोधी विषयोंमें (उदासीनता) प्रवृत्ति न होना ॥

भावार्थ--निरोध शब्दका अर्थ केवल कर्मफलका त्याग ही नहीं है, किंतु प्रेमसाधनमें अनन्यता और प्रेमसाधनके विरोधी विषयोंमें प्रवृत्ति न होना भी है । क्योंकि-केवल कर्मफलके त्यागसे प्रेमलाभ नहीं होसकता, किंतु प्रेमको पानेके लिये कर्मफलके त्याग के साथ प्रेमसाधनमें अनन्यता और उसके विरोधी विषयोंमें प्रवृत्ति रहित भी होनाचाहिये। कर्मफलत्यागका अर्थ है, कि-कर्मका फल भगवान्को अर्पण करना, यह फलार्पण भी एक कर्म है और इसको आरोपसिद्धा भक्तिमें गिनाजाता है। जो भक्ति न होकर भी भक्तिके लिये एक प्रकारका फल उत्पन्न करकै भक्ति के आकारमें दीखने लगताहै उस कर्मको ही आरोपसिद्धा भक्ति कहा है । ईश्वरको फलका अर्पण करना रूप कर्म स्वयं भक्ति न होकर भी भक्तिका फल जो चित्तशुद्धि उसको उत्पन्न करकै भक्ति के आकारमें दीखनेलगता है, इसीसे इसको आरोपसिद्धा भक्ति कहतेहैं ९

अन्याश्रयाणान्त्यागोऽनन्यता ॥ १० ॥

अन्येषां सकलानामाश्रयाणां त्यागोऽनन्यतेत्युच्यते ॥

पदार्थ--(अन्याश्रयाणाम्) अन्य आश्रयोंका (त्यागः) त्याग (अनन्यता) अनन्यता है ॥

भावार्थ-केवल एकमात्र प्रेमसाधन श्रवण आदि साधनभक्ति का आश्रय लेकर उससे अन्य सकल आश्रयोंको त्यागदेना अनन्यता है, इसकारण अनन्यता शब्दका अर्थ है शरणागत होना १०

लोकवेदेषु तदनुकूलाचरणं तद्विरोधिषूदासीनता ११

लोकेषु वेदेषु च, तदनुकूलाचरणं प्रेमसाधनानुकूलाचरणं तद्विरोधिषूदासीनतेत्युच्यते ॥

पदार्थ--(लोकवेदेषु) लोक और वेदमें (तदनुकूलाचरणम्) प्रेमसाधनके अनुकूल आचरण करना ही (तद्विरोधिषु-उदासीनता) उसके विरोधियों में उदासीनता है ॥

भावार्थ-यदि प्रेम और उसके साधनोंके प्रतिकूल जो राग, द्वेष, अभिनिवेश आदि अनेकों अनर्थ हैं उनसे उदासीन होना होगा तो एकनिष्ठाके साथ चिरकालसे प्रचलित लौकिक सद्व्यवहार और वेदविहित धर्मानुष्ठान रूप भगवद्भावके अनुकूल आचरण करना होगा । विहित कर्मोंके अनुष्ठान किये विना राग द्वेषादिसे उदासीनता नहीं होसकती और विहितकर्मोंका अनुष्ठान

निष्कामभाव और एकनिष्ठा से करते रहो तो भगवद्भावके प्रतिकूल कार्यमात्रमें आपसे आप अनास्था और उदासीनता होजायगी ॥

भवतु निश्चयदार्ढ्यादूर्ध्वं शास्त्ररक्षणम् ॥ १२ ॥

निश्चयस्य श्रद्धायाः दार्ढ्यात् दृढतायाः, ऊर्ध्वं परम्, यदि केनचित् शास्त्रमर्यादापालनं, शास्त्रोक्तकर्मानुष्ठानं, क्रियते, तत् करोतु, नास्ति तत्र प्रत्यवायः, श्रद्धादार्ढ्यात्पूर्वन्तु शास्त्रविहितकर्मानुष्ठानमवश्यमेव कर्त्तव्यम् ॥

पदार्थ-(निश्चयदार्ढ्यात्) निश्चयबुद्धि दृढ होनेसे (ऊर्ध्वम्) आगे (शास्त्ररक्षणम्) शास्त्रमर्यादाकी रक्षा (भवतु) होय ।

भावार्थ-भगवान्‌की उपासना करते २ जबतक एकनिष्ठारूप श्रद्धा अविचल न हो, तबतक शास्त्रमें लिखेहुए अपने अधिकारानुसार विहित और निषिद्ध कर्मोंकी ओर अवश्य ध्यान रखकर चले, क्योंकि-भक्तिकी अपरिपक्वदशामें कर्मानुष्ठानपर अश्रद्धा करनेसे मनकी मलिनता दूर नहीं होती और वह मलिनता भक्तिको प्रबल नहीं होनेदेती भक्तिसाधन सिद्ध होनेपर कर्मनिष्ठा आपसे आप ही निवृत्त होजाती है, इसकारण उससमय कर्म न करनेसे प्रत्यवाय नहीं होता और यदि कोई भक्तिका अधिकारी अपने अधि-

कारको दृढ करनेके लिये फिर भी कर्मका अनुष्ठान करै तो उसमें कोई दोष भी नहीं है ॥ १२ ॥

अन्यथा पातित्यशंकया ॥ १३ ॥

अन्यथा निश्चयदार्ढ्यात्पूर्वं विहितकर्मानाचरणे निषिद्धकर्माचरणे च, पातित्यस्य भक्तिसाधनविच्युतेः शंकास्ति, अतः श्रद्धादृढत्व-माशास्त्ररक्षणमावश्यकम् ॥

पदार्थ-(अन्यथा) ऐसा न करनेमें (पातित्यशंकया) साधनसे च्युत होनेका सन्देह है, इसकारण ॥

भावार्थ-जैसे वृक्षके नए पौधेकी मूलमें जल न देने से उसका सूखजाना संभव है, तैसे ही भक्तिरूप लताकी मूलमें कर्मरूप जल से विना सींचे उसके विनष्ट होजानेकी शंका है, इसकारण भक्तिको दृढ़ करनेके लिये शास्त्रविहित कर्मका अनुष्ठान अवश्य ही करना चाहिये ॥ १३ ॥

लोकोऽपि तावदेव किंतु भोजनादिव्यापारस्त्वा-शरीरधारणावधि ॥ १४ ॥

लोकः लोकाचारोपि, तावदेव निश्चयदृढत्वपर्यन्तमेव, भोजना-नादिव्यापारः तु, आशरीधारणावधि यावत्कालं शरीरधारणं ताव-त्कालपर्यन्तमेव ॥

पदार्थ—(लोकः-अपि) लोकाचार भी (तावदेव) तवतक ही है (किंतु) परन्तु (भोजनादिव्यवहारः-तु) भोजन आदिका व्यवहार तो (आशरीरधारणावधि) शरीरधारणपर्यन्त है ॥

भावार्थ—लोकाचारकी मर्यादाका नियम भी श्रद्धा की दृढ़ता होने तक ही है, श्रद्धा दृढ होजाने पर लोकमर्यादाकी रक्षा न कीजाय तो कोई हानि नहीं है, परन्तु भोजनादिरूप लौकिक व्यवहार तो शरीरधारणपर्यन्त होगा ही, यह नियम आश्रमी अधिकारियोंके लिये है, कि-वह स्वधर्माचरणके द्वारा लोकमर्यादाकी रक्षा करैं, परिनिष्ठित अधिकारीको भी लोकशिक्षाके लिये लौकिक सदाचारका पालन करना चाहिये, परंतु निरपेक्ष अधिकारी के लिये कोई नियम नहीं है, वह लौकिक कर्माचरणके विना शरीर धारण न करसकै तो लौकिक कर्मोंका आचरणकरै और यदि लौकिक कर्मानुष्ठानके विना ही शरीर धारण करसकै तो वह उसको भी त्यागसकता है। कितने ही लोग शंका करतेहैं, कि--जव खाना पीना आदि कर्म ही न छूटा तो जीवनमें कर्मत्याग ही क्या हुआ? इस शंका को दूर करनेके लिये ही इस सूत्रकी रचना है। भोजनादि व्यवहार शरीररक्षामात्रके लिये है, भोजनत्याग का नाम कर्मत्याग नहीं है, यदि ऐसा होता तव तो विष खाकर मरजानेसे ही भोजन

त्याग होकर कार्यसिद्धि होजाती। इसकारण यहाँ कर्म कहने से समाग पारलौकिक कर्म लेना, जबतक वासनाका क्षय न हो तबतक ही लौकिक और पारमार्थिक कर्मका अनुष्ठान करै और जब वासनाओंका क्षय होजाय तब "को विधिः को निषेधः" उसके लिये कोई विधि निषेध नहीं है। भक्त बिल्वमङ्गलाचार्यने तो भक्तिमें तन्मय होकर यहां तक कहदिया, कि—"सन्ध्यावन्दन भद्रमस्तु भवते भो स्नान तुभ्यं नमः भो देवाः पितरश्च तर्पणविधौ नाहं क्षमः क्षम्यताम्। यत्र क्वापि निषद्य यादवकुलोत्तंसस्य कंसद्विषः, स्मारं स्मारमघं हरामि तदलं मन्ये किमन्येन मे॥१४॥

तृतीय अनुवाक

तल्लक्षणानि वाच्यन्ते नानामतभेदात्॥१५॥

तस्याः भक्तेः, लक्षणानि, नानामतभेदात्। नानामतेषु ये भेदास्ताननुसृत्य, वाच्यन्ते निरूप्यन्ते।

पदार्थ—(तल्लक्षणानि) उस भक्तिके लक्षण (नानामतभेदात्) अनेकों मतोंके भेदसे (वाच्यन्ते) कहेजाते हैं॥

भावार्थ—भक्तिमें वास्तवमें कोई भेद न होनेपर भी भिन्न २ ऋषियोंके भिन्न २ सम्प्रदायानुसार साधनगत भेदसे भक्तिके भिन्न २ लक्षण कहेंगे। इस सूत्रमें एक संदेह होसकता है कि—यह वास्तव

में सूत्र नहीं है, क्योंकि- "स्वल्पाक्षरमसंदिग्धम् सूत्रं" जिसमें वर्णनीय विषय संक्षेपसे और निःसंदेहभावसे कहा हो, उसको ही सूत्र कहते हैं, भक्ति के लक्षण तो कहेंगे ही अतः प्रतिज्ञाको सूत्र नहीं कहसकते। सो यह सन्देह करना ठीक नहीं है, क्योंकि-वास्तवमें यह सूत्र वक्तव्य विषयकी प्रतिज्ञाका बोधक नहीं है, किंतु लोक में जो पिता, माता, बन्धु, बांधव, स्त्री, पुत्रादिमें प्रेमभाव दीखता है, वह वास्तविक प्रेम नहीं है, शास्त्रोक्त प्रेम और उसके जो महात्मा अनेकों प्रकारके लक्षण करते हैं उसकी ओर ध्यान दिलाना ही इस सूत्रका लक्ष्य है ॥ १६ ॥

पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः ॥ १६ ॥

पूजादिषु भगवदर्चनादिषु, अनुरागः भक्तिः इति पाराशर्यः पराशरोक्तः सम्प्रदायविशेषः ।

पदार्थ-(पूजादिषु) पूजा आदिमें (अनुरागः) अनुराग (इति) यह (पाराशर्यः) पराशर मुनिका कहा संप्रदायविशेष है ॥

भावार्थ—जिस वृत्तिका उदय होने पर भगवान्की पूजा आदिमें,अनुराग उत्पन्न हो वह वृत्तिविशेष ही भक्तिका स्वरूप है, वह साध्यरूप है और अनुरागके साथ भगवत्पूजन आदि उसका साधन है, इसप्रकार वास्तवमें कुछ मतभेद नहीं है ॥ १६ ॥

कथादिष्विति गार्गः ॥ १७ ॥

कथादिषु भगवद्गुणकर्मश्रवणादिषु अनुरागः भक्तिः इति गार्गः गर्गोक्तः सम्प्रदायविशेषः ।

पदार्थ-(कथादिषु) कथा आदिमें (अनुरागः) अनुराग (इति) ऐसा (गार्गः) गर्ग मुनिका कहा सम्प्रदायविशेष है ॥

भावार्थ-जिस वृत्तिका उदय होने पर, भगवान्के गुणानुवाद का सुनना और सुनाना ही सकल साधनोंका सार है ऐसा जानकर उसमें गाढ़ अभिनिवेश और श्रद्धा उत्पन्न हो, वह वृत्ति ही भक्ति है ऐसा गर्ग ऋषिका मत है, यह वृत्ति साध्य है और अनुरागके साथ भगवान्की कथाका श्रवण आदि उसका साधन है, अतः मूलमें कोई भेद नहीं है ॥ १७ ॥

आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः ॥ १८ ॥

आत्मरत्यविरोधेन यथा आत्मरतेर्हानिं न स्यात्तथा भगवदर्चनादिषु अनुरागः भक्तिः इति शाण्डिल्यो मनुते ॥

पदार्थ-(आत्मरत्यविरोधेन) आत्मरति के अविरुद्धरूपसे (इति) ऐसा (शाण्डिल्यः) शाण्डिल्य मुनि मानते हैं ॥

भावार्थ-परमप्रेम ही भक्तिका स्वरूप है, पूजा आदि उसका

साधन हैं, इसकारण जिसप्रकारकी पूजा आदिसे प्रेमकी हानि न हो उस पूजा आदिमें अनुराग ही अनुकूल साधन है; सांसारिक बोधको छोडकर एक आत्मचैतन्यमें ही सकल अस्तित्वकी आहुति देकर पूर्णानन्द में मग्न होना ही आत्मरति वा परमप्रेम है, इस आत्मरतिमें जिसप्रकार बाधा न आवे, जो उपाय आत्मरतिके अनुकूल हो उसके द्वारा जिस प्रेममयी वृत्तिका प्रवाह वहै उसको ही शाण्डिल्य मुनिने भक्ति माना है। इसप्रकार पूर्वोक्त लक्षणोंमें कहने की शैलीमात्रका भेद दीखने पर भी अर्थमें एकता है। सार यह है कि—भगवान्का परमप्रेम ही भक्ति है और जिसके द्वारा यह परम प्रेम अबाधरूपसे प्रकाशित हो वह ही उसका साधन है, इसविषय में किसीसे मतभेद नहीं है, अतएव पूर्वोक्त सब ऋषियोंके मतको आगे रखकर देवर्षि नादरजी फिर कहते हैं, कि—॥ १८ ॥

नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति ॥ १९ ॥

यस्याः वृत्तेरुदये "यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥" इति भगवदुक्ताचारतत्परता, तद्विस्मरणे च परममव्याकुलता भवेत् सा वृत्तिर्भक्तिरिति तु नारदस्याभिमतम् ॥

पदार्थ-(नारदः-तु) नारद तो (तदर्पिताखिलाचारता) अपने सकल कर्म भगवान्‌को अर्पण करनेका स्वभाव (तद्विस्मरणे) उनके विस्मरणमें (परमव्याकुलता) अत्यन्त व्याकुल होना (इति) ऐसा मानते हैं ॥

भावार्थ—जिस वृत्तिका उदय होनेसे सब कर्म भगवान्‌में अर्पित हों और उनके विस्मरणमें परम व्याकुलता हो वह वृत्तिही भक्तिका स्वरूप है, परमप्रेम ही ऐसी वृत्ति है, समस्त कर्म भगवान्‌को अर्पण करना ही उसका साधन है । कर्म दो प्रकारके होते हैं—लौकिक और पारलौकिक। पारलौकिकमें इतना करना चाहिये कि—तुम कुटुंबका पालन करो, अतिथिसेवा करो, याग यज्ञ करो तपस्या आदि किसी भी कर्मका अनुष्ठान करो, उसको ईश्वरार्थ वा ईश्वरपूजनार्थ समझकर उसका फल ईश्वरको अर्पण करतेहुए करो, उससमय मन खोलकर कहो, कि-प्रातरुत्थाय सायाह्नंसायाह्नात्प्रातरन्ततः । यत्करोमि जगन्नाथ तदेव तव पूजनम् ॥,, प्रातःकाल से उठकर सायंकाल पर्यन्त और सायंकालसे फिर प्रातःकाल पर्यन्त जो कुछ कार्य करता हूँ हे भगवन् ! वह सब आपका ही पूजन है । लौकिकमें यह कर्त्तव्य है कि—कार्य करते समय यदि भगवान्‌को भूलकर "मैं कर्त्ता हूं, मैं भोक्ता हूं" ऐसा खोटा अभिमान

होने लगें तो जबतक फिर भगवान्को हृदयका स्वामी न बनासके तबतक यदि उनके विरहकी पीड़ासे तुम्हारा चित्त परमव्याकुल होनेलगे तो समझो, कि परमप्रेमरूपा वृत्तिका उदय हुआ, इस प्रकार पारलौकिक कर्म तो भगवान्को फल अर्पण करनेसे निवृत्त हुए और लौकिक कर्मोंमें अभिनिवेश होनेपर व्याकुलता हुई तो वह आप ही छुटजायँगे, अर्थात् जब लौकिक पारलौकिक कर्मों की प्रवृत्तिसे छुटकर अन्तःकरणमें अनवच्छिन्न तैलधाराकी समान भगवद्भावकी वृत्तिका प्रवाह वहनेलगे, निरंतर भगवत्प्रेममें चित्त मग्न रहे, जराभी विस्मरण होनेपर परमव्याकुलता होनेलगे, यह ही भक्तिका लक्षण है ॥ १९ ॥

अस्त्येवमेवम् ॥ २० ॥

पदार्थ-(एवम्, एवम्) यह इसप्रकार ही (अस्ति) है ॥

भावार्थ-श्रीभगवान्को समस्त कर्म अर्पण करना और उनके विस्मरणमें परमव्याकुलता होनेके दृष्टान्त भी हैं, यह केवल कल्पना ही नहीं है, यही बात दिखाते हैं ॥ २० ॥

यथा व्रजगोपिकानाम् ॥ २१ ॥

व्रजगोपिकानां आचरणं, यथा-अत्र दृष्टान्तः ।

पदार्थ-(यथा) जैसे (व्रजगोपिकानाम्) व्रजकी गोपियों का [दृष्टान्त है]।

भावार्थ-नन्दनन्दन श्रीकृष्ण ही भगवान् हैं, गोप और गोपियें उनकी स्वरूपशक्तियें हैं, राधिका प्रधान गोपी है और सब गोपियें राधिका का कायव्यूह हैं, गोपियोंका प्रेम श्रीभगवान्की स्वरूपशक्तिका, ल्हादिनी अंशकी प्रधानतावाला शुद्धसत्वरूप वृत्ति है। यह गोपीप्रेमरूपा वृत्ति गोपियोंकी स्वाभाविकी थी, अतएव गोपियोंके सकल कर्म नित्य भगवान्को अर्पित होते थे, व्रजगोपिकाओंके सब ही कर्म भगवान् के लिये थे। जब रासमण्डलमें भगवान्ने वंशी बजाकर गोपियोंको बुलाया उस समय वह जिसप्रकार सब कर्मोंको त्यागकर अनन्य मनसे वंशीकी ध्वनिकी ओर ध्यान लगाएहुए वनमें को गईं, उसको पढ़नेसे यही बात सिद्ध होती है। भगवान् के विरहमें गोपियोंका परमव्याकुल होना किसीसे छुपा नहीं है, भगवान्के दर्शनके विना क्षणभरका समय भी उनको सैंकड़ों युगसा मालूम होता था, भगवान्को विना देखे जिनको ऐसी व्याकुलता होती थी, उनको विस्मरण होनेपर व्याकुलताका तो कहना ही क्या ? प्रिय वस्तुका दर्शन न होनेपर उसका स्मरण ही प्रेमीका अवलम्बन होताहै, दैवात् यदि विस्मृति होजाय

तो कैसी व्याकुलता होगी, इस बातको तो भुक्तभोगी ही समझ-सकते हैं, गोपियोंकी यह व्याकुलता भी स्वाभाविक थी, वास्तवमें वृन्दावनविहारिणी गोपियें प्रेमभक्तिकी पराकाष्ठा दिखागई हैं, तभी तो नारदजीने भक्तिके उदाहरणसूत्रमें गोपियोंका नाम लिया है, वास्तवमें प्रेममें मग्न होकर जो मद्य मतवालेकी समान घर, संसार, ऐश्वर्य, मान, प्रतिष्ठा और लोकलज्जा आदि सब को त्याग कर उन को ही परम भक्त थीं, उनकी महिमाको कौन कहसकता है ? भगवान्‌ने स्वयं ही कहा है–"न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः। या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलां संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना ॥" अर्थात् हे व्रजदेवियों ! यदि मैं देवताओंकी आयु धारण करूँ और वैसी अनेकों कल्पोंकी आयु से तुममें से एकका भी प्रतिउपकार कराचाहूँ तो नहीं करसकूँगा, क्योंकि--महादुर्जर घरकी जंजीरको तुम्हारे सिवाय कौन तोड-सकता है ? । भगवान्‌ने उद्धवजीसे भी कहा था, कि-"ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः । ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान्बिभर्म्यहम् ॥ मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः स्मरन्त्यो ङ्ग विमुह्यन्ति विरहोत्कण्ठाविह्वलाः ॥ धारयन्ति कृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चन । प्रत्यागमनसन्देशैर्बल्लव्यो मे मदात्मिकाः ॥"

अर्थात्--हे उद्धव! गोपियोंने अपना मन मुझमें ही अर्पण करदिया है, मैं ही उनका प्राण हूँ, मेरे निमित्त उन्होने अपने२ शारीरिक व्यवहारतकको त्याग दिया है, जिन्होने मेरे लिये लौकिक व्यवहार और धर्म के विधि निषेध तकको तुच्छ कररक्खा है, उनकी रक्षा मैं ही करता हूँ, गोपियें मुझे अपने परमप्यारोंसे भी प्यारा समझती हैं, मेरे दूर रहनेसे मुझे स्मरण करतीहुई वह विरहकी परमपीडासे व्याकुल होकर अपने शरीरतक की सुध भूलजाती हैं, मेरे विना वह बड़े क्लेशसे प्राण धारण करती हैं, मेरे फिर लौटकर आने के सन्देशसे ही वह प्राणोंको धारण कररही हैं, मैं ही उन व्रजगोपिकाओंका आत्मा हूं और वह मेरी हैं।ऐसी गोपियों के प्रेमकी महिमासे श्रीमद्भागवत आदि धर्मग्रन्थोंका अधिकतर भाग भूषित है, इसको भक्तजन उन ग्रन्थोंमे ही पढें। प्रेमभक्तिके प्रचारक श्रीगौराङ्गदेवने भी अपने संन्यासनिर्णयग्रन्थमें, गोपी तथा गोपोंका विरहानुभव प्राप्त होनेकी अपनी उत्कण्ठा दिखायी है और गोपियोंको प्रेममार्गका गुरु मानाहै, यथा—"यच्च दुःखं यशोदाया नंदादीनाञ्च गोकुले।गोपिकानांतु यद्दुःखं तद्दुःखं स्यान्मम क्वचित्॥ गोकुले गोपिकानां च सर्वेषां व्रजवासिनां। यत्सुखं समभूत्तन्मे भगवान् किं विधास्यति॥ उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा।

वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित ॥" इत्यादि गोपगोपियों के प्रेमकी कौन थाह पासकता है ? ॥ २१ ॥

न तत्रापि माहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः ॥२२ ॥

तत्रापि परमप्रेमिण्या अपि माहात्म्यज्ञानस्य विस्मृतिरूपोऽपवादो नास्ति ॥

पदार्थ-(तत्रापि) तिस दशामें भी (माहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः) माहात्म्यज्ञान न होनेका अपवाद (न) नहीं है ।

भावार्थ-अनेकोंका यह विश्वास है कि-गोपियोंका भगवान् में प्रेम था, परन्तु वह भगवान्के माहात्म्यको नहीं जानती थीं अर्थात् श्रीकृष्णको भगवतदृष्टिसे नहीं देखती थीं, परंतु जब गोपियोंको यह कहतेहुए सुनते हैं, कि- "नैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसम्" "अस्त्येमेतदुपदेशपदे त्वयीशे, प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा" "व्यक्तं भवान् व्रजभयार्त्तिहरोऽभिजातः" "न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्" तब हम कैसे विश्वास करलें, कि-गोपियें उनको भगवान् नहीं जानती थीं ॥ २२ ॥

तद्विहीनं जाराणामिव ॥ २३ ॥

तेन माहात्म्यज्ञानेन, विहीनं शून्यं प्रेम, जाराणामिव उपपती-नामिव न चिरं स्थायि भवति ॥

पदार्थ-(तद्विहीनम्) माहात्मज्ञानसे हीन प्रेम (जाराणाम्-इव) उपपतियोंकेसा होता है ।

भावार्थ-जहाँ माहात्म्यका ज्ञान नहीं होता वहाँ की प्रीति जारोंकीसी होती है । व्यभिचारिणी स्त्रियें जारोंसे प्रेम करती हैं, परन्तु उनका वह प्रेम चिरकालपर्यन्त नहीं रहसकता, क्योंकि-जार साधारण मनुष्य है, साधारणमनुष्यमें कुछ माहात्म्य है यह भावना नहीं होती, अतः उसके ऊपरका प्रेम चिरकालतक नहीं ठहरता । जिसमें प्रेम किया है, व्यभिचारिणी जब उसके माहात्म्य को भूलजाती है और जब दूसरा जार उससे महान् मालूम होने लगता है उसीसमय पहिले जारमें कियाहुआ उसका प्रेम नष्ट हो-जाता है । भगवान्‌के साथ भक्तका ऐसा भाव नहीं होता, भक्त समझता है, कि--भगवान्‌से बड़ा कोई है ही नहीं, इसीसे भक्तके प्रेमको भगवान्‌के सिवाय और कोई पा ही नहीं सकता, भक्तका प्रेम चिरकाल रहता है, उसका नाश होता ही नहीं ॥ २३ ॥

नास्त्येव तस्मिंस्तत्सुखसुखित्वम् ॥ २४ ॥

तस्मिन् जारप्रेम्णि, तत्सुखसुखित्वं तस्य जारस्य सुखेन सुखित्वं नास्ति, एव ॥

पदार्थ--(तस्मिन्) तिस जारप्रेममें (तत्सुखसुखित्वम्) प्रियतमके सुखसे सुखी होना (न-एव) नहीं ही (अस्ति) है ॥

भावार्थ-विशेषकर उपपतिके प्रेममें तत्सुखसुखित्व देखनेमें नहीं आता, व्यभिचारिणी स्त्रियें कामके वशीभूत होकर अपना सुख साधनेके लिये ही जारमें प्रेमभाव दिखातीहैं, उनके इस प्रेम में उपपतिके सुखमें सुख नहीं होसकता, परन्तु भगवत्प्रेम ऐसा नहीं होता। आत्मकाम भगवान्में भी स्वार्थ नहीं है और भगवत्प्रीति-मात्रकी कामनावाले भक्तमें भी और कोई स्वार्थ नहीं है, भक्तके प्रेममें ही भगवान् सुखी हैं और भगवत्प्रेममें ही भक्त सुखी है। ममतारहित शांत भक्त सकल प्राणियों में दयाभाव रखनेमें ही भगवत्प्राति समझते हैं और ममतायुक्त गौरवभावमय दासभक्त दास्यभावमें ही भगवत्प्रीति मानतेहैं तथा ममतायुक्त अनुग्रहभावमय वात्सल्यभक्त भगवान्की वात्सल्यसेवामें ही भगवत्प्रीति मानते हैं और ममतायुक्त अपने सुखके तात्पर्यसे रहित सम्भोगतृष्णावाले कान्ताभक्त कान्तसेवामें ही भगवत्प्राति मानते हैं, सार यह है कि-भगवत्प्रीतिमें ही सब भक्तोंकी प्रीति है। गोपियें भगवत्प्रेमिका

थीं, कामुका नहीं थीं, वह भगवान् कृष्णसे प्रेम करती थीं, कामके वशीभूत होकर इन्द्रियोंको तृप्त करनेके लिये उनको नहीं चाहती थीं। प्रेम और वस्तु है, काम और वस्तु है। मेरे द्वारा दूसरा सुखी हो और दूसरेके द्वारा मैं सुखी होऊँ, ऐसे मनके वेगका नाम प्रेम है और दूसरेके द्वारा मुझे सुख मिले, इसका नाम काम है। गोपियें अपने मन प्राण पर्यन्तको भगवान्‌के सुखी करनेकी सामग्री समझती थीं, ब्रजकी प्रेमलीला-आश्चर्यमयी प्रेमलीला थी। गोलोककी गोप्यलीला मृत्युलोकमें अभिनीत हुई थी॥ २४॥

चतुर्थ अनुवाक।

सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा ॥ २५ ॥

सा परमप्रेमरूपा भक्तिः तु, कर्मतो ज्ञानतो योगतोऽपि अधिकतरा श्रेष्ठतरा॥

पदार्थ-(सा-तु) वह परमप्रेमरूपा भक्ति तो (कर्मज्ञानयोगेभ्यः, अपि) कर्म, ज्ञान और योगसे भी (अधिकतरा)परमश्रेष्ठ है

भावार्थ-भक्ति भगवान्‌की स्वरूपशक्तिकी वृत्ति है। वृत्ति शब्दका अर्थ है क्रिया, स्वरूपशक्तिकी क्रिया स्वरूपशक्तिकी ही सम्पत्ति है, इस सम्पत्तिका सोता भगवती गङ्गाके प्रवाहकी समान

मृत्युलोकमें भी वह रहा है, जैसे गङ्गाका प्रवाह भगीरथके खातमें ही वहताहै,तैसेही भक्तिका प्रवाह भी भक्तिसम्प्रदायमें ही वहताहुआ देखनेमें आता है,जो उसके अनुगामी वनकर भक्तिसम्पदाको चाहतेहैं वह ही उसको पाते हैं। कर्मी, ज्ञानी और योगियोंके सम्प्रदाय में भक्तिका लाभ नहीं होसकता, क्योंकि भक्ति उन सम्प्रदायोंकी सम्पत्ति नहीं है। भक्तिरूपा सम्पत्ति तो कर्म-ज्ञान और योग आदि सब सम्पत्तियोंसे श्रेष्ठ है। कर्मका फल मुक्ति, ज्ञानका फल मुक्ति और योगका फल सिद्धि है। मुक्ति, मुक्ति और सिद्धि की कामना वालोंको शान्ति नहीं होती, भक्तिका फल शान्ति है, भक्त शान्त होते हैं। भक्तिका फल तृप्ति है, भक्त तृप्त होते हैं। भक्तिका फल प्रीति है, भक्त प्रेमी होते हैं। अतएव भक्ति सबसे श्रेष्ठ है ॥ * ॥ पहिले कर्म दो प्रकारका है-विहित और निषिद्ध। जगतको अमङ्गलकारी इसलोक और परलोकमें अपने को व्याकुल करनेवाले पापरूप कर्मका नाम निषिद्ध कर्म है। जगतका और अपना मंगल करनेवाले पुण्यरूप कर्मका नाम विहित कर्म है। निषिद्ध कर्मको करने से मृत्यु होनेपर प्रेतदशाके अनन्तर नरकगति होती है, प्रेतलोकके नीचेका प्रांतही नरकलोक है समुद्रके वक्षःस्थल से चन्द्रलोक पर्यन्त ऊपर २ स्थित होनेके

अनन्तर २ के सूक्ष्मद्वीप नामक भूतलके कोप ही प्रेतलोक हैं, प्रेत शब्दका अर्थ है मृत। निषिद्ध कर्म करनेवालेको नरकभोगके अंत में फिर पृथिवीपर आकर कर्मानुसार शरीर धारण करना पड़ताहै निषिद्ध शारीरिक कर्मसे स्थावर शरीर, निषिद्ध वाचिक कर्मसे पक्षी आदिका तिर्यक् शरीर और निषिद्ध मानस कर्मसे नीचजाति का मानवदेह मिलता है। विहित कर्म भी दो प्रकारका है-एक सकाम और दूसरा निष्काम। फलकी कामनावाले कर्मका नाम सकाम कर्म है। सकाम कर्म भी तीन प्रकारका है-सात्त्विक, राजस और तामस। तामस विहित कर्म करनेवालेकी प्रेतदशाके अनन्तर विलस्वर्गमें गति होतीहै। भूगर्भमेंकी पातालपुरी विलस्वर्ग है। राजस विहित कर्म करनेवालेकी भुवर्लोकमें गति होतीहै। चन्द्रमण्डलसे सूर्यमण्डल पर्यन्त सौर जगत ही भुवर्लोक है। सात्विक विहित कर्म करनेवालेकी प्रेतत्वके अनन्तर स्वर्गमें गति होतीहै सौर जगत्से आगे समस्त प्राकृत लोकोंका साधारण नाम स्वर्ग है। स्वर्गभोगके अनंतर फिर पृथिवीपर आकर कर्मानुरूप स्थान प्राप्त होता है। सात्विक कर्माधिकारीका कर्मभूमि भारतवर्षमें और सकाम कर्माधिकारीका भोगभूमि अन्य वर्षोंमें जन्म होताहै, भारतवर्षसे अन्य वर्षोंका साधारण नाम भौमस्वर्ग है। स्वर्गसे च्युतहुए जीवोंका वासस्थान होनेसे

ही उनको भौमस्वर्ग कहाजासकताहै । स्वर्गके चार भाग हैं-गृही का स्वर्ग इन्द्रलोक, ब्रह्मचारीका स्वर्ग महर्लोक और जनलोक, वानप्रस्थका स्वर्ग तपोलोक, संन्यासीका स्वर्ग ब्रह्मलोक वा सत्य-लोकसे प्रकृतिके आवरणतक । सत्यलोकसे परे क्षिति आदि आवरणोंका नाम भुवनकोष है । पूर्वोक्त तामस आदि तीन प्रकार के विहित कर्मोका आचरण करनेवालोंका ही भोगके अन्तमें इस लोकमें फिर आना शास्त्रोंमें सुना जाताहै । उनमें तामस विहिता-चारी तामस ज्ञान वा तामस भक्तिके अधिकारी होते हैं, राजस विहिताचारी राजस ज्ञान वा राजस भक्तिके अधिकारी होते हैं, और सात्विक विहिताचारी सात्विक ज्ञान वा सात्विक भक्तिका अधिकार पाते हैं । मोहसे उत्पन्न ज्ञान वा भक्ति तामस है, विषय से उत्पन्न ज्ञान वा भक्ति राजस है, और आत्मासे उत्पन्न हुआ ज्ञान वा भक्ति सात्विक है । सात्विक ज्ञान और सात्विक भक्तिके अधिकारीकी निष्काम कर्ममें प्रवृत्ति होती है । सात्विक ज्ञानी निष्काम कर्म वा कर्मयोगके द्वारा चित्तशुद्धिके अनन्तर मोक्षफल को पातेहैं । मुक्तको कर्मका बन्धन नहीं है । सात्विक भक्त निष्काम कर्म वा भक्तियोगके द्वारा चित्तशुद्धिके अनंतर भगवत्प्रेमरूप सम्पदा को पाते हैं, भगवत्प्रेमीको कर्मबंधन नहीं है । मुक्त और भक्त

दोनो ही स्थूल, सूक्ष्म और कारण इस तीन प्रकार के जीवकोष से मुक्त होकर प्रकृतिके परले पार चलेजाते हैं, इन दोनो को फिर कर्मसूत्रमें नहीं बँधना पडता । मुक्त और भक्त दोनोंको ही कर्म सूत्र जीवकोषमें बँधकर इसलोकमें नहीं आनापड़ता है । मुक्त पुरुष अपने अस्तित्वको परब्रह्मके अस्तित्वमें मिलाकर शान्त होते हैं और भक्त अपनेको भजनीय भगवान् के अधीन करके भजनीय परम पुरुषको आत्मसमर्पण करके शान्तिसुखको भोगते हैं । सिद्ध शरीरको न ग्रहण करनेवाले मुक्त, निष्क्रिय अवस्थामें विलीन होजाते हैं । सिद्धशरीरको प्राप्त हुआ भक्त अनन्तकाल तक श्रीभगवान्‌की सेवा में तत्पर रहताहै, भक्तका कर्मबंधन न होनेपर भी उनका कर्मप्रवाह विच्छिन्न नहीं होताहै वह भगवत्कर्मके सहकारी होते हैं ॥ + ॥ स्वरूपानुभवका साधनभूत ज्ञान तीन प्रकारका है—ब्रह्मज्ञान परमात्मज्ञान और भगवद्ज्ञान । "सोऽहम्" मैं ब्रह्म हूँ, इस ज्ञानका नाम ब्रह्मज्ञान है। मैं जीवात्मा अन्तर्यामी परमात्माका अंश हूँ, यह परमात्मज्ञान है । मै शक्ति हूँ, शक्तिमान् परमेश्वरकी शक्तिका अंश हूँ, इस ज्ञानका नाम भगवद् ज्ञान है । ब्रह्मज्ञानका फल ब्रह्मसायुज्य वा सद्योमुक्ति और परमात्मज्ञानका फल परमात्मसायुज्य वा क्रममुक्ति है ।

योग शब्दसे कर्मयोग, ज्ञानयोग भक्तियोग और अष्टाङ्गयोग यह चार योग लियेजाते हैं। कर्मयोग निष्काम कर्मका नाम है। कर्मयोग के फलमें स्वतंत्रता नहीं है, वह ज्ञानका अङ्गीभूत होकर चित्तशुद्धि के द्वारा ज्ञानके फल मोक्षको और भक्तिका अङ्गीभूत होकर चित्त-शुद्धिके द्वारा भक्तिके फल प्रेमको उत्पन्न करता है। यम, नियम, आसन प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन आठ के समूहका नाम अष्टाङ्गयोग है। कर्मयोगकी समान अष्टाङ्गयोगका फल भी स्वतंत्र नहीं है। यह भी ज्ञानका अङ्गीभूत होकर चित्तकी एकाग्रताके द्वारा ज्ञानके फल मोक्षको और भक्तिका अङ्गीभूत होकर भक्तिके फल प्रेमको उत्पन्न करता है।

भक्ति भी तीन प्रकारकी है गुणीभूता, प्रधानीभूता और केवला। कर्म, ज्ञान वा योग ही जिसका प्रधान अंग है और किसी फलकी प्राप्तिके लिये भक्ति केवल जिसका आनुषंगिक अंग है, उसका ही नाम गुणीभूता भक्ति है। गुणीभूता भक्तिका दूसरा नाम स-काम भक्ति है, इसका फल सिद्धि और मुक्ति है। कामनावाले और आर्त्त पुरुष इसके अधिकारी हैं। भक्ति जिसका प्रधान अंग है और कर्म, ज्ञान वा योग जिसके सहायकमात्र हैं उस का नाम प्रधानीभूता भक्ति है। प्रधानीभूता भक्तिका दूसरा नाम मिश्रा,

निष्कामा वा सात्त्विकी भक्ति है, यह भक्ति फिर तीन प्रकारकी है कर्ममिश्रा,ज्ञानमिश्रा और योगमिश्रा। मुमुक्षु पुरुष ही सबका अधिकारी है। कर्ममिश्रा भक्तिका फल ज्ञानमिश्रा भक्ति वा ज्ञानयोग और योगमिश्रा भक्ति वा अष्टाङ्ग योग है।ज्ञानयोगका फल सद्योमुक्ति है। अष्टाङ्ग योगका फल क्रममुक्ति है। कर्ममिश्रा भक्तिका दूसरा नाम आरोपसिद्धा भक्ति है। कर्ममिश्रा भक्तिके अङ्कुर निष्काम कर्म, भक्तिका कार्य जो चित्तशुद्धि तिसके द्वारा भक्तित्व का आरोप होनेपर भक्तिरूप सिद्ध होतेहैं अर्थात् भक्ति न होकर भी कुछएक भक्तिके आकारवाले प्रतीत होतेहैं इससे आरोपसिद्धा भक्ति कहेजाते हैं। ज्ञानमिश्रा और योगमिश्रा भक्तिका दूसरा नाम संगसिद्धा भक्ति है।ज्ञानमिश्रा भक्तिका अंगभूत सात्त्विक ज्ञान और योगमिश्रा भक्तिकी अङ्गभूत सात्त्विक क्रियाएं भक्तिके साथ होकर भक्तिका फल जो ब्रह्मसाक्षात्कार और परमात्मसाक्षात्कार तिसके द्वारा भक्तिसे किसी अंशके आकारमें प्रतीत होनेलगती हैं इसीकारण उसको संगसिद्धा भक्ति कहते हैं। केवला भक्ति इनसे सर्वथा भिन्न है। केवला भक्तिका दूसरा नाम निर्गुणा वा स्वरूपसिद्धा भक्ति है। कर्म ज्ञानादि इसके अधीन हैं, यह कर्म ज्ञानादिके अधीन नहीं है, किंतु सर्वथा स्वाधीन है। यह स्वाधीनभावसे ही कर्मका

फल जो चित्तशुद्धि एवं ज्ञान और योगका फल जो, मोक्ष इन सर्वोके साथ अपने फल भगवत्प्रेम और उसके साक्षात्कार आदि को देती है, इसकारण भक्ति सबसे श्रेष्ठ है ॥ २५ ॥

फलरूपत्वात् ॥ २६ ॥

फलरूपा अस्ति अतोपि श्रेष्ठा ।

पदार्थ-(फलरूपत्वात) फलरूप होनेसे [श्रेष्ठा] श्रेष्ठ है ।

भावार्थ-भक्ति स्वयं फलरूप है, इसकारण सबसे श्रेष्ठ है । ज्ञानाभिमानी कहते हैं, कि-भक्ति साधन है और ज्ञानरूप उसका फल है, सो यह ठीक नहीं है, क्योंकि-भगवद्गीतामें लिखा है, कि "अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्। विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति । समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥" इसमें भगवान्ने दिखाया है, कि-ज्ञान, कर्म और योगरूप साधनसे मनुष्य अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोधको त्यागकर निर्मल, शान्त, ब्रह्मात्मज्ञान युक्त, परमानन्दपूर्ण होकर शोक कामना आदिसे रहित और सब प्राणियोंमें समदर्शी होजाताहै तब भगवान्की पराभक्तिको पाताहै, सब साधनोंका एक यही फल है, कि-भगवान्की कृपा प्राप्त हो, भगवान्की कृपादृष्टि विनाहुए भक्ति सिद्ध नहीं होती, इसकारण

भक्ति सब साधनोंका फलरूप होनेसे सर्वश्रेष्ठ है ॥ २६ ॥

ईश्वरस्याप्यभिमानिद्वेषित्वाद्दैन्यप्रियत्वाच्च ।२७।

ईश्वरोऽपि अभिमानिद्वेष्टा दैन्यप्रियः अतोऽपि भक्तेः श्रेष्ठत्वम् ।

पदार्थ-(ईश्वरस्य-अपि) ईश्वरके भी (अभिमानिद्वेषित्वात) अभिमानीका द्वेषी होनेसे (च) और (दैन्यप्रियत्वात) दीनताका प्रिय होनेसे ॥

भावार्थ-कर्म, योग और ज्ञानके साधनकालमें साधकके चित्त में उन साधनोंका अभिमान होनेपर उस अभिमानी से परमेश्वर प्रसन्न नहीं होते । भगवान् तो एकमात्र दीनों के बंधु, पतितोंके उद्धारकर्त्ता और निर्धनोंके सर्वस्वधन हैं, वह अभिमानीके कोई नहीं हैं, ठीक ही है, जिनको अपने साधनोंका भरोसा है उनको वह क्यों बूझेंगे ? जो स्त्री अपनी सुंदरता और जारोंके द्वारा धनोपार्जन करतीहै उसको पति क्यों बूझैगा? जो बालक आप अपनी जीविका करलेनेका अभिमानी है उसकी ओर मातापिताका ध्यान क्यों होगा? जो सेवक अपना निर्वाह आप ही करलेनेका अभिमानी है उसके स्वामीको क्या चिंता ? विशेषकर परमेश्वरसे स्वामीको कि-जिसको सदा दीन ही प्यारे हैं, उसके सामने तो

जब सब साधनोंको छोड़ अनन्यभावसे कहोगे, कि-सर्वसाधनहीनस्य पराधीनस्य सर्वथा।पापापीनस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम॥ अर्थात्- हे कृष्ण! मैं सर्वसाधनोंसे हीन, सर्वथा पराधीन हूँ पापोंसे पिचाहुआ और परमदीन हूँ हे नाथ! अब तो मेरी गति आप ही हैं, तब ही वह तुम्हारी ओर ध्यान देंगे, क्योंकि-उनकी विरद है, कि-तेषामहं समुद्धर्त्ता भृत्युसंसारसागरात्। अर्थात् अपने शरणागतोंको मैं भवसागरसे उवारता हूँ। इसकारण जो दीनभाव रखते हैं वही भगवान्के प्रीतिपात्र हैं। मैं कर्त्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मैं मुक्तहूँ, मैं सिद्ध हूँ, ऐसा समझना ही अहंकारका परिचय देताहै। जो अपनेको कर्त्ता आदि मानतेहैं, उनको फिर परमेश्वरको माननेकी भी आवश्यकता नहीं दीखती और वह परमेश्वरको मान भी नहीं सकते, इसकारण वह अवश्य ही उनके द्वेषी हैं, जो परमेश्वरके विद्वेषीहैं वह उनके प्रियपात्र कभी नहीं होसकते, किंतु उलटे वह असुरोंमें ही गिनेजाते हैं। जो असुरस्वभावके होतेहैं उनके हृदयमें ही वैसे अभिमानका उदय होताहै, जबतक यह अहंकार विनष्ट नहीं होगा तबतक देवस्वभावका उदय न होनेसे परमेश्वरका प्रीतिपात्र नहीं होसकता, दैन्यबुद्धिका उदय होने पर ही अहङ्कारका विलय होताहै। अन्य साधनोंकी अपेक्षा न करके केवल परमेश्वरकी कृपाको

ही आत्मसमर्पण कियेविना इस दैन्यबुद्धिका उदय नहीं होता, निरपेक्षभावसहित शरणागति ही अहंकार को नष्ट करतीहै, वह ही शुद्धा भक्ति की एक अवस्था है, अतएव शुद्धा भक्ति सबसे श्रेष्ठहै॥

तस्या ज्ञानमेव साधनमित्येके ॥ २८ ॥

तस्याः भक्तेः ज्ञानमेव साधनं; इति एके केचित् वदन्ति ।

पदार्थ-(तस्याः) तिसका (साधनम्) साधन (ज्ञानम्-एव) ज्ञान ही है (इति) ऐसा (एके) कोई कहते हैं ।

भावार्थ—किन्हींके मतमें ज्ञान ही भक्तिका साधन है परंतु ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि—गृध, गजेन्द्र आदिको कौन ज्ञान सिखाने आया था ?, उन्होने केवल भक्तिके साथ भगवान् को पुकारा ही था, इसीसे भगवान्का साक्षात् दर्शन पागए, भगवान्ने कहा भी है-"केवलेन हि भावेन गोप्यो गावः खगा मृगाः । येन्ये मूढधियो नागा सिद्धा मामीयुरञ्जसा ॥ २८ ॥

अन्योन्याश्रयत्वमित्यन्ये ॥ २९ ॥

अन्योन्याश्रयत्वं ज्ञानभक्त्योः परस्पराश्रयत्वम्, इति अन्ये केचित् वदन्ति ।

पदार्थ--(अन्योन्याश्रयत्वम्) परस्पराश्रयपना है (इति) ऐसा (अन्ये) दूसरे कहते हैं ।

भावार्थ-दूसरे कोई २ कहते हैं, कि-ज्ञान भक्तिके आश्रय और भक्ति ज्ञानके आश्रय है, सो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि-भक्तिका उदय होजानेपर ज्ञानतत्त्वकी जिज्ञासाका उदय ही नहीं होता ॥ २९ ॥

स्वयं फलरूपतेति ब्रह्मकुमाराः ॥ ३० ॥

स्वयं स्वस्या एव फलरूपता इति सनत्कुमारनारदादयो ब्रह्मकुमारा मन्वते ।

पदार्थ-(स्वयम्) आप (फलरूपता) फलरूपपना (इति) ऐसा (ब्रह्मकुमाराः) ब्रह्मकुमार मानते हैं ।

भावार्थ-सनत्कुमारादि और नारदजीका मत है, कि-भक्ति स्वयं ही फल है और स्वयं ही उस फलका साधन है । नित्य-सिद्ध भगवान्के प्रेमरूप भक्तिका कोई साधन है ही नहीं, श्रवणा-दिसे शुद्धहुए चित्तमें उसका उदय आप ही होजाता है । श्रवण आदि भक्तिके अङ्ग ही क्रमसे परिपक्व होकर भावरूपमें और भाव अपनी गाढ़तामें प्रेमरूपसे प्रकाशित होता है ॥ ३० ॥

राजगृहभोजनादिषु तथैव दृष्टत्वात् ॥ ३१ ॥

राज्ञां नृपतीनां गृहेषु भवनेषु च भोजनादिव्यापारेषु च तथैव दृष्टत्वात्

पदार्थ--(राजगृहभोजनादिषु) राजद्वार और भोजन आदि

में (तथैव) तैसा ही (दृष्टत्वात्) देखाहै इसकारण ।

भावार्थ-राजद्वार (राजदरबार) और भोजनादिमें ऐसा ही देखा है, जिसको अगले सूत्रमें उदाहरण देकर दिखाते हैं ३१

न तेन राजपरितोषः क्षुधाशान्तिर्वा ॥ ३२ ॥

तेन बोधमात्रेण राजपरितोषः भूपतेः तुष्टिः, क्षुधाशांतिः बुभुक्षानिवृत्तिः, न भवति ।

पदार्थ-(तेन) ज्ञानसे (राजपरितोषः) राजाकी प्रसन्नता (वा) या (क्षुधाशांतिः) भूखकी शांति (न) नहीं होती ॥

भावार्थ-भक्ति ज्ञानका फलरूप नहीं है,इस बातको दृष्टान्त देकर सिद्ध करते हैं, कि--मानलो, तुमने जानलिया कि--राजा भगवान्, सौम्य, दयालु, धर्मात्मा और प्रजाको प्रसन्न रखनेवाला है तो क्या तुम्हारे इतने जानलेनेमात्रसे राजा सन्तुष्ट होजायगा अर्थात् तुम तो राजज्ञान होजानेसे राजाकी तृप्ति नहीं होसकती तथा घी शर्करा आदिसे मिष्टान्न बनता है इस बातको केवल जान लेनेसे ही क्या तुम्हारी भूख दूर होजायगी ? कदापि नहीं होगी ऐसे ही केवल भगवान्के स्वरूपको जानलेनेमात्रसे जीवका कर्त्तव्य सिद्ध नहीं होता, इसीसे अगले सूत्रमें फिर कहतेहैं कि ॥ ३२ ॥

तस्मात्सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः ॥ ३३ ॥

तस्मात्कारणात् मुमुक्षुभिः मोक्षाभिलाषिभिः, सैव भक्तिरेव, ग्राह्या स्वीकार्या ।

पदार्थ--(तस्मात्) तिससे (मुमुक्षुभिः) मुमुक्षुओं करकै (सा-एव) वह ही (ग्राह्या) ग्रहण करने योग्य है ।

भावार्थ-इसकारण सकल प्रकारकी उपाधियोंसे मुक्ति चाहनेवालोंको इस भक्तिका ही आश्रय करना चाहिये । तात्पर्य यह है, कि-सूत्रकारने अनेकों प्रकारका विचार करकै सिद्धांत करा है-कि कर्म, योग और ज्ञान मुक्तिका साधन होने पर भी उनमें अनेकों विघ्न होना संभव है । मुक्ति पानेके लिये-भगवान्का दर्शन करनेके लिये भक्ति ही निर्मल मार्ग है, इसीसे जीवोंके ऊपर करुणा करकै उन्होने भक्तिसमानेमें प्रवृत्ति दी है ।मुक्ति भक्तिका मुख्य फल नहीं है, किंतु भक्तिसाधनाके मार्गमेंको बढनेपर मार्गमें मुक्ति आप आपहुँचती है मुक्ति पाजानेके अनंतर भी भक्तिका मार्ग दूरतक फैलाहुआ है । स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीन प्रकारकी उपाधि से मुक्ति पानेके लिये मुमुक्षु को पृथक् साधन नहीं करना पडता है, भक्ति ही समस्त परमार्थकी प्रदात्री है ॥ ३३ ॥

पञ्चम अनुवाक--

तस्याः साधनानि गायन्त्याचार्याः ॥ ३४ ॥

आचार्याः शाण्डिल्यादयः, तस्याः भक्तेः, साधनानि गायन्ति कीर्त्तयन्ति।

पदार्थ--(आचार्याः) आचार्य (तस्याः) उस भक्तिके (साधनानि) साधनोंको (गायन्ति) कीर्त्तन करते हैं ॥

भावार्थ--यद्यपि प्रेम नित्यसिद्ध है, उसका कोई कारण नहीं है तथापि प्रेमभक्तिको पानेके उपायस्वरूप कुछ साधन आचार्योंने कहे हैं ॥ ३४ ॥

तत्तु विषयत्यागात्सङ्गत्यागाच्च ॥ ३५ ॥

तत् प्रेम तु विषयत्यागात् तत्सङ्गत्यागाच्च प्राप्यते।

पदार्थ--(तत्-तु) वह प्रेम तो (विषयत्यागात्) विषयत्यागसे (च) और (सङ्गत्यागात्) सङ्गके त्यागसे ॥

भावार्थ--विषयत्यागका अर्थ है--विषयभोगत्याग और विषयसङ्गत्यागका अर्थ है-विषयासक्तिको त्यागना, विषयोंकी खिचावट बड़ी ही प्रबल है, विषयोंको त्यागना बड़ा ही कठिन है, किसीप्रकार विषय छूट भी जायँ तो विषयोंका संग नहीं छूटता। यम

नियम आदिके अभ्यास और वैराग्य के द्वारा धीरे २ विषय और विषयोंके सङ्गका त्याग कियाजासकता है । परंतु विषय और विषयोंके संगको छोड़नेका एक सहज उपाय भगवान्में भक्ति करना है, ऐसा करनेसे ही विषयोंसे वैराग्य और निःसङ्गता होकर परम प्रेमरूपा भक्तिसिद्धि होती है ।। ३५ ॥

अव्यावृतभजनात् ॥ ३६ ॥

अव्यावृतभजनात् । निरन्तरभजनात् विषयतत्सङ्गत्यागपूर्वक प्रेम लभ्यते

पदार्थ--(अव्यावृतभजनात्) निरन्तर भजन करने से ।

भावार्थ--निरंतर भगवान्का भजन अर्थात् भगवान् के गुण नाम आदिका श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण करना चाहिये, क्योंकि भजनसे अवकाश पाते ही मन रजोगुण और तमोगुण में को घुसने लगता है । उससमय विषयचिन्ता मनको भुलादेती है, इस लिये निरंतर भजन करें निरंतर भजन करनेसे उसमें वृत्ति जमजाती है, तब आप ही विषय और उनका संग छूटकर इंद्रियोंसहित मन भगवान्के चरणोंमें जा लगता है और चित्त शुद्ध होजाता है, उस शुद्ध चित्तमें ही क्रमसे प्रेमका आविर्भाव होता है, इसीसे श्रीवल्लभाचार्यजीने कहा है-"तस्मात्सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम । वक्तव्यमेव सततं स्थातव्यमिति मे मतिः ।" अर्थात्-

इस कारण नित्य निरन्तर 'श्रीकृष्णः शरणं मम' कहा करै, ऐसा मेरा मत है, आपने भक्तिवर्द्धिनी ग्रंथमें भी कहाहै, कि-"अव्यावृतो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः।" श्रवण कीर्त्तनादि पूजाके द्वारा भगवान् कृष्णका निरंतर भजन करै, ऐसा न समझै, कि-जैसे नित्य भोजनादि करतेहैं ऐसे ही थोडीदेर को यह भी सही, किंतु इसको निरंतर करो, इसका यह भाव नहीं है, कि-शरीरयात्राके व्यवहारोंको छोड़दो, किंतु निर्वाहके लौकिक व्यवहार करतेहुए जब उनसे अवसर पाओ तब और कोई व्यर्थ काम न करके भगवान्का स्मरण करो, क्योंकि-निरन्तर भगवत्स्मरण से चित्तशुद्धि होकर भक्ति प्रकट होतीहै, तभी तो 'श्रीकृष्ण चैतन्यदेवने कहा है, कि-

"चेतोदर्पणमार्जनं भवमहादावाग्निनिर्वापणं,श्रेयःकैरवचान्द्रिकावितरणं विद्यावधूजीवनम् ।आनन्दाम्बुधिवर्द्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं, सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्णसङ्कीर्त्तनम् ॥" जो मनोरूप दर्पणकी मलिनताको दूर करता है, जो संसाररूप भयानक दावानलको बुझाताहै, जो परममंगलरूप कुमुदको खिलानेके लिये चांदनी देताहै, जो विद्यावधूको जीवनदान देताहै,जो सुखसमुद्रको बढाता है,जो पद२पर पूर्ण अमृतकेसा स्वाद देताहै और जो आत्माको प्रेम सागरमें स्नानकराताहै वह श्रीकृष्णकीर्त्तन सर्वोत्कृष्टरूपसे विराजमानहै ६६

लोकेऽपि भगवद्गुणश्रवणकीर्त्तनात् ॥ ३७ ॥

भगवतो गुणानां श्रवणकीर्त्तनादिभ्यः चित्तशुद्धौ प्रेमप्राप्तिः लोकेऽपि दृश्यते ।

पदार्थ—(लोके-अपि) लोकमें भी (भागवद्गुणश्रवण-कीर्त्तनात्) भगवान्के गुणोंका श्रवण और कीर्त्तन करनेसे ।

भावार्थ—जबतक निरन्तर भगवद्भजन करनेकी सामर्थ्य न होजाय तबतक अवकाश मिलने पर लोकोंके समीप भगवान्की कथाका श्रवण और कीर्त्तन करै, क्योंकि--इस कलिकालमें भगवन्नामकीर्त्तन मुख्य धर्म है, इस युगमें नामसंकीर्त्तनसे ही पुरुषार्थ सिद्धि होसकतीहै, इसीसे भगवान्ने कृपा करकै नाममें अनेकों प्रकारसे अपनी शक्तियोंको स्थित करदिया है, इसीकारण भगवान्की कथा का श्रवणकीर्त्तन करते २ चित्त क्रमसे भगवान्की ओर को खिचने लगताहै, श्रीचैतन्यदेवजी लिखते हैं, कि--व्यावृत्तोऽपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत् सदा। ततः प्रेम तथासाक्त्यंव्यसनञ्च यदा भवेत्।" अर्थात् यदि चित्त भक्तिमें न रंगा हो तो हरिकथाके श्रवण आदिमें लगावै तो धीरे २ उसमें आसक्ति बढैगी अर्थात् श्रवण कीर्त्तनका व्यसन पड़जायगा और भक्तिका बीज आप ही दृढ़ हो-जायगा। सब लोग भक्तिके अधिकारी नहीं होते,परंतु श्रवण कीर्त्तन

करनेसे सब होजाते हैं और श्रवण कीर्त्तनके अधिकारी मुक्त, मुमुक्षु और विषयी तीनों हैं यही बात श्रीमद्भागवतके आरंभमें कही है " निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्भवौषधाच्छ्रोत्रमनोभिरामात । क उत्तम श्लोकगुणानुवादात्पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात " ॥ ३७ ॥

मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा ।३८।

मुख्यरूपेण तु महत्कृपया महात्मजनानुग्रहेणैव अथवा भगवतो कृपालेशतः प्रेम लभ्यते ।

पदार्थ-(मुख्यतः-तु) मुख्यरूपसे तो (महत्कृपया-एव) महात्माओंकी कृपासे ही (वा) अथवा (भगवत्कृपालेशात) भगवानकी कृपाके लवसे ।

भावार्थ--यद्यपि पूर्वोक्त साधनोंसे भक्तिका आविर्भाव होताहै, परन्तु महात्माओंकी कृपा वा श्रीभगवानकी कृपाका लेश प्रेम को पानेका मुख्य उपाय है । यहाँ महत् शब्दका अर्थ मध्यम भक्त है, क्योंकि सकल प्राणियोंमें समदृष्टि रखनेवाले उत्तम भक्तोंकी कृपामें तो विषमता होती ही नहीं और अभक्तोंके ऊपर कृपा करना मध्यमभक्तका गुण है । भगवानकी कृपा भक्तकी कृपाके पीछे पीछे चलती है, जिसके ऊपर भक्तकी कृपा होती है, उसके ऊपर भगवान् भी दया करते हैं, भगवान की दया होने

पर प्रेम अलभ्य नहीं रहता, उनकी स्वरूपशक्ति की वृत्तिरूप प्रेम स्वरूपशक्तिमेंसे जीवशक्तिमें को गङ्गाके प्रवाहकी समान वहने लगता है, इसकारण महात्माओंकी दया होनेपर प्रेम सुलभ है। कभी २ किन्हीं २ जीवोंको साक्षात् भगवान्की कृपा से भी प्रेमलाभ होताहै, परन्तु यह बात भगवान्के अवतारकाल में ही होसकती है और समय भक्तोंके द्वारा ही भगवान्की कृपा का लाभ होताहै। महात्मा जडभरतने रहूगण राजासे कहा था कि—"रहूगणैतत्तपसा न याति नचेज्यया निर्वपनाद्गृहाद्वा। न छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोभिषेकात्॥" अर्थात् हे रहूगण! यह भक्तिरूप सिद्धि तपस्याके द्वारा नहीं होती, यागादि कर्मके द्वारा भी नहीं होती, घरको छोडकर योगी होनेसे भी नहीं होती, वेद और वेदान्तको पढलेनेमात्रसे भी नहीं होती जलके द्वारा स्नान सन्ध्या तर्पणादि करने से भी नहीं होती, अग्निके द्वारा अग्निहोत्रादि करने से भी नहीं होती; सूर्योपस्थान वा ग्रीष्मके तापसेवनादिसे भी नहीं होती केवल महात्माओंकी चरणरजके सेवनसे ही होती है। भगवान् ने अपने श्रीमुखसे भी कहाहै—"नह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः। ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः॥" हे अक्रूर!

गंगा आदि तीर्थ और मृण्मय वा शिलामय देवता जिनको पवित्र नहीं करते वा बहुत विलम्बसे पवित्र करतेहैं, उनको साधु महात्मा दर्शनमात्रसे ही पवित्र करदेतेहैं । बाहरी चेष्टा वा यत्नसे भक्ति का लाभ नहीं होता, किंतु साधुमहात्माओंका अनुग्रह होतेही भगवान् की कृपादृष्टि होकर हृदयमें भक्तिका उदय होता है ॥ ३८ ॥

महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च ॥ ३९ ॥

महतां संगः, दुष्प्राप्यः, अगम्यः, सफलश्च ।

पदार्थ—(तु) किंतु (महत्संगः) महात्माओंका संग (दुर्लभः) दुर्लभ (अगम्यः) अगम्य (च) और (अमोघः) सफल है ।

भावार्थ—महात्माओंका संग होय तो उनकी कृपा होसकती है, परन्तु उनका संग होना बड़ा दुर्लभ है, वह हमारे चाहने पर नहीं होसकता, क्योंकि-वह कामना और स्वार्थरहित होते हैं उनका संग होनेका उनकी इच्छाके सिवाय और कोई उपाय नहीं है, उनकी ऐसी इच्छा होनेका कारण भी साधारण पुरुषोंकी समझमें नहीं आसकता, अपना सौभाग्य हो तब ही उनका दर्शन होता है, यदि महात्मा सामने आजायँ तब भी अपने मनमें मलिनता होनेके कारण उनको पहिचाना नहीं जाता, इसकारण

महत् पुरुषोंका संग दुर्लभ है, परन्तु एक वार किसीप्रकार संग हुआ, कि--वह निष्फल नहीं जाता, अपने अधिकारके अनुसार उसका फल अवश्य ही मिलता है, इस कारण वह अमोघ है॥

लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव ॥ ४० ॥

तस्य भगवतः कृपयैव संगः अपि लभ्यते प्राप्यते ।

पदार्थ-(तत्कृपया-एव) भगवान्की दया करकै ही (लभ्यते-अपि) प्राप्त भी होताहै ।

भावार्थ--श्रीभगवान् जिसके ऊपर दया करना चाहते हैं, उसी समय वह किसी साधुके मन बैठकर उसको भेजदेते हैं । वह अपने भावसे जिसको रँगदेते हैं, दया करकै जिसके हृदयके किवाड खोलदेते हैं, उसको ही भगवान्के भेजेहुए साधुका दर्शन और संग होता है ॥ ४० ॥

तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात् ॥ ४१ ॥

तस्मिन् भगवति तज्जने हरिजने भेदाभावात् एवं भवति ।

पदार्थ--(तस्मिन्) तिन भगवान्में (तजने) उनके भक्त में (भेदाभावात्) भेद न होनेसे ॥

भावार्थ—श्रीभगवान् और उनके भक्तमें भेद नहीं है, इसी

से भगवान्‌की इच्छामें ही भक्तकी इच्छा होतीहै, इसीसे भगवान् जिसके ऊपर दया करना चाहतेहैं, उसको अपना निदर्शनरूप साधु-संग देतेहैं, भगवान्‌की दयाका भी समय है, जब किसी जीवका हृदय आत्मप्रशंसारहित होताहै जब आत्मग्लानिका अनुभव करता है अपनेको तुच्छ समझनेलगताहै, तब ही उसके ऊपर भगवान्‌की दया होतीहै, वह आत्मग्लानि जब शास्त्रीय श्रद्धाके साथ दीनताके रूपमें आजाती है, उसीसमय वह दया साधुसंगके स्वरूपमें प्रकाशित होतीहै, साधुको देखते ही भगवान्‌का स्मरण होताहै, भक्तकी भावनाके अनुसार उनकी प्रतीति होतीहै, भक्त उनमें और वह भक्तके हृदयमें रहतेहैं, इसकारण दोनोंमें भेद नहीं है ॥ ४१ ॥

तदेव साध्यतां तदेव साध्यताम् ॥ ४२ ॥

तत् प्रेम एव पौनःपुन्येन साध्यताम् ।

पदार्थ-(तत्-एव) उस प्रेमको ही (साध्यताम्) साधनकरो, (तत्-एव) उस प्रेमको ही (साध्यताम्) साधन करो ॥ ४१ ॥

भावार्थ-नारदजी भक्तिको पानेका और उपाय न देखकर, और किसी चातुरीसे जीवकी गति होती न समझकर, भक्ति ही साधनसमुद्रका एकमात्र अमूल्य रत्न है, इस बातका तपोबलसे अनुभव करके जीवके कल्याणके लिये ऊपरको भुजा उठाकर

मुक्तकण्ठसे कहतेहैं, कि—हे जीव भगवद्भक्तिके सिवाय और किसी प्रकार उद्धार नहीं है, उसकी ही साधना कर ॥ ४२ ॥

षष्ठ अनुवाक

—०—

दुःसङ्गः सर्वथैव त्याज्यः ॥ ४३ ॥

दुःसङ्गः विषयिजनसमागमः,सर्वथा सर्वैः प्रयत्नैः त्याज्यः परिहरणीयः ।

पदार्थ-(दुःसङ्गः) कुसंग(सर्वथा-एव) सबप्रकारसे ही(त्याज्यः) त्यागदेना चाहिये ॥

भावार्थ—यदि भक्तिको पानेकी चाहना हो तो पहिले दुःसंग को त्यागो । विषयोंमें आसक्त पुरुषोंके संगको दुःसंग कहते हैं । संग होनेपर एकके गुण दोष दूसरेमें आते हैं, विषयासक्त पुरुषके संगसे विषयके सुखदायकपन गुणका ध्यान होते२ विषयोंमें आसक्ति होने लगती है, विषयासक्त पुरुष किसीप्रकार विषयको छोड़देने पर भी विषयों की तृष्णासे छुटकारा नहीं पासकता, इसकारण विषयतृष्णा के मूल दुःसङ्गको उद्योग करके त्यागदेना चाहिये ॥ ४३ ॥

कामक्रोधमोहस्मृतिभ्रंशबुद्धिनाशसर्वनाशकारणत्वात् ॥ ४४ ॥

यतो हि सः दुःसङ्गः कामक्रोधादीनां निदानमतः त्याज्यः ।

पदार्थ-(कामक्रोधमोहस्मृतिभ्रंशबुद्धिनाशसर्वनाशकारणत्वात्) काम, क्रोध, मोह, स्मृतिनाश, बुद्धिनाश और सर्वनाशका कारण होनेसे ॥

भावार्थ-कुसंगीकी खोटी संमतिसे और उसके खोटे व्यवहार को देखनेसे काम अर्थात् विषयोंके भोग की अभिलाषा होतीहै, किसी कारणसे उस विषयभोगकी तृप्तिमें बाधा पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होताहै, क्रोधका उदय होते ही चित्त चंचल होकर भले बुरेके विचारसे हीनतारूप मूढता वा मोह उत्पन्न होजाताहै, मोह होते ही चित्त अज्ञानांधकारसे ढकजाताहै, चित्तमें स्थित संस्कारोंका विस्मरण होजाताहैं, तब अपने कल्याणसाधनके उपायरूप इन्द्रियों को जीतनेकी चेष्टा और उसके अनुसंधानका भी ध्यान नहीं रहता इस स्मृतिनाशके साथ २ बुद्धि भी ठिकाने नहीं रहती, मनुष्य कुछका कुछ करने लगताहै; और ऐसा हुआ, कि-जीवका लोक परलोक सब नष्ट होजाताहै, ऐसे सर्वनाशके कारण दुःसंगको जैसे बने तैसे त्यागना ही चाहिये ॥ ४४ ॥

तरङ्गायिता अपीमे सङ्गात्समुद्रायन्ति ॥ ४५ ॥

तरङ्गायिता अपि सूक्ष्मरूपेण वर्त्तमाना अपि, इमे कामादयः

सङ्गात् दुःसमागमात् समुद्रायन्ति उपचीयन्ते ।

पदार्थ--(तरंगायिता-अपि) तरंगकी समान स्थित भी (इमे) यह (सङ्गात्) संगसे (समुद्रायन्ति) समुद्रसे होजाते हैं ।

भावार्थ--उस कुसंगका और भी दोष दिखाते हैं, कि-जो मनुष्य सुमार्ग पर चलते हैं उनको जैसे कभी २ ज्ञानकी सूक्ष्मतरंगें उठाकरती हैं, जैसे स्त्रीगमनके अन्तमें, तीर्थमात्रामें हरिकथाओंको सुननेपर वा श्मशानको देखने पर ज्ञानकी तरंगें उठती हैं, मनुष्य जितनी देर श्मशानमें बैठते हैं-संसार नाशवान् है, धन जनमें मोह करना अच्छा नहीं, इत्यादि ज्ञानकी बातें करते हैं, परन्तु तहांसे लौटकर घर आते ही सब भूलकर संसारमें मग्न होजाते हैं, ऐसे ही सज्जनोंको यद्यपि अपने वर्णाश्रमके अनुकूल कर्मोंको करतेहुए पुत्रस्नेह आदिके द्वारा काम क्रोधादिकी तरंगें उठकर मोह होता है, परन्तु वह उतने ही समय रहताहै जबतक वह अपने स्वरूप को भूले रहतेहैं, परन्तु यदि वही सज्जन कुसंगके जालमें पड़जायँ तो उनकी साधुताके भाव धीरे २ अन्तर्धान होकर उन सूक्ष्मरूपसे वर्त्तमान काम क्रोधादिकी तरंगों पर तरंगें आकर उनका एक विशाल समुद्रसा बनजाताहै और वह जीवोंको दुःखभरी गंभीर गहराईमें डुबोदेताहै ॥ ४९ ॥

कस्तरति कस्तरति मायां ! यः संगं त्यजति यो महानुभावं सेवते निर्ममो भवति ॥४६॥

कः जनः मायां तरति अतिक्रामति, यः जनः सङ्गं आसक्तिं, त्यजति परिहरति, महानुभावं साधुजनं, सेवते भजति, निर्ममः ममत्वरहितः भवति, स एव मायां तरति ।

पदार्थ-(कः) कौन (मायाम्) मायाको (तरति) तरताहै (कः) कौन (मायाम्) मायाको (तरति) तरताहै (यः) जो (संगम्) संगको (त्यजति) त्यागताहै (यः) जो (महानुभावम्) साधुपुरुषको (सेवते)भजताहै(निर्ममः)ममतारहित (भवति)होताहै

भाषार्थ-मनुष्यमात्र स्वभावसे ही यह चाहता है, कि-मेरे दुःख दूर हों और सुख मिलें,परंतु यह दुःख दूर होना और सुख मिलना मनुष्यकी इच्छाके अधीन नहीं है, यह सब कर्मानुसार होता है, कर्मोंके वशीभूत मनुष्य परवश होकर दुःखोंको और सुखोंको भोगता है। विवश होकर सुखदुःखोंका भोग करते२ कभी किसी पुरुष को आत्मग्लानि होतीहै, आत्मग्लानि होनेसे श्रद्धा होतीहै। शास्त्र पर विश्वासका नाम ही श्रद्धा है,श्रद्धावान् पुरुष ही भक्तिका अधिकारी है। शास्त्रके ऊपर विश्वास होनेपर व्यवहारसे गाढा संबंध होने पर भी परमार्थमें शिथिल विश्वासके साथ शास्त्रानुसार आच-

रणमें आदर और चाहना देखनेमें आती है। यह आदरसहित चाहना भी श्रद्धाकी ही एक अवस्था है। शास्त्रोक्त आचरणमें आदरके साथ चाहना उत्पन्न होने पर भी यथावत् आचारके पालनकी शक्ति नहीं होती, इसीसे सांसारिक सुख दुःख देनेवाले कर्ममें उदासिनिता उत्पन्न नहीं होती और सकल कर्मोंमें बड़ी भारी आसक्ति भी नहीं होती। जितनी २ आसक्ति कम होती जाती है उतनी उतनी ही निषिद्ध आचरणकी कमीके साथ विहित आचरण की वृद्धि होती जाती है और ऐसा होते २ क्रमसे कर्मफलमें आसक्ति नहीं रहती। फलकी आसक्तिसे रहित कर्मको ही निष्काम कर्म कहते हैं। निष्काम कर्मका आरंभ होते ही साधनकी आवश्यकता प्रतीत होने लगती है और ऐसी समझ होते ही साधुपुरुषोंका समागम होता है। साधुसमागमके साथ साधुसेवामें प्रवृत्ति होनेके साथ २ व्यवहारमें कुछ २ शिथिलता और परमार्थमेंको कुछ गाढता होनेलगती है, यह ही प्रेमका बीज है। साधुसेवा ही भजनकी पाहिली सीढी है। यह प्रथम भजन क्रिया दो प्रकारकी है-निष्ठित और अनिष्ठित। इस भजनक्रियाका आरंभ होते ही अन्यबातें दूर होकर क्षणिक ध्यान होनेलगता है, फिर भजनक्रियाकी मात्राके अनुसार सकल अनर्थोंकी निवृ-

त्तिके साथ २ ध्यान जमने लगता है और अन्य बातोंमेंको चित्त नहीं जाता। अनर्थ चार प्रकारके हैं- १ दुष्कर्म से होनेवाले, २ सुकृतसे होनेवाले, ३ अपराधसे होनेवाले, और ४ भक्ति से होने वाले। पापकर्मके कारण जो अनुचित भोगासक्ति आदि, उससे उत्पन्न हुए काम आदि शत्रुओंके आक्रमणसे कलुषित हुए चित्तके लय विक्षेप आदिका नाम दुष्कर्मोत्थ अनर्थ है। पुण्यकर्मवश शुद्ध भोगासक्ति आदिके कार्यरूप लयविक्षेप आदिका नाम सुकृतोत्थ अनर्थ है। नामापराधसे उत्पन्न हुए लयविक्षेप आदि अनर्थोंका नाम अपराधोत्थ अनर्थ है। शिव कोई अलग ईश्वर नहीं हैं, किंतु विष्णुका ही एक अवतार हैं, तथापि उनको विष्णुसे भिन्न एक अलग ईश्वर मानना तथा गुरुदेवमें मनुष्यबुद्धि आदि अवज्ञा करना, वेद पुराण आदि शास्त्रोंकी निंदा करना, नाममें अर्थवाद अर्थात् भगवन्नामकी जो शक्तियें कही हैं वह वास्तवमें नहीं हैं, किंतु प्रशंसाकी बात है ऐसा समझना। नामकी खोटी व्याख्या वा कष्टकल्पना करना, नामके बल पर पापकर्म करना, नामको अन्य शुभकर्मोंके समान समझना, श्रद्धाहीनको नामका उपदेश देना, नामका माहात्म्य सुनकर भी नाममें प्रीति न करना, यह दश नामापराध हैं भक्तिके द्वारा होनेवाली पूजा आदिकी चेष्टासे

उत्पन्न हुए लय विक्षेप आदिका नाम भक्त्युत्थ अनर्थ है। यह चारों-प्रकार के अनर्थ जितने कम होंगे उतनी ही भजनमें निष्ठा होगी। निश्चलताको निष्ठा कहते हैं। अनर्थदशामें लयविक्षेप आदिके कारण भजनमें निश्चलता नहीं होती। जितने २ लय विक्षेप आदि अनर्थ कम होतेजायँगे उतनी ही निश्चलता होतीजायगी। इन अनर्थोंके निवृत्त होनेका उपाय श्रीचैतन्यदेवने कहा है,कि-"तृणादपि सुनी-चेन तरोरपि सहिष्णुना। अमानिना मानदेन कीर्त्तनीयः सदा हरिः" तिनुकेसे भी नीचा, वृक्षसे भी अधिक सहनशील, आप निरभिमान होना और सबमें भगवान्की ही झांकी है ऐसा समझकर दूसरोंका सन्मान करना, ऐसा होकर निरन्तर भगवन्नामकीर्त्तन करै, इस उप-देश पर चलनेसे भजनमें निष्ठा होजायगी, निष्ठाके अनंतर रुचि होकर आसक्ति होगी। आसक्ति होनेपर ध्यान् जमने लगेगा, ध्यान गाढ़ा होकर भाव होजायगा, वह भाव ही प्रेमका अंकुर है। उस दशामें समाधिके समय परतत्त्वकी स्फूर्त्ति होती है। भावका ही दूसरा नाम प्रेम है। प्रेमका उदय होनेपर क्रमसे देह और देहके संबंधियोंमेंकी ममता कम होती जाती है और ममतारहित भक्त भगवान्का अन्तः साक्षात्कार पाता है, फिर बहिःसाक्षात्कार पाता है, भगवान्का बहिः साक्षात्कार होनेसे हृदयकी गांठ खुलजाती है, सब प्रकारके संदेहों

की निवृत्ति और कर्मका जडमूलसे चय होजाताहै, जिसके कर्म की जड कटगई वही माया के पार होगया, यह मायाके पार होना किसीका शरीर शान्त होनेपर और किसीका शरीर के रहते भी सिद्ध होताहै ॥ ४६ ॥

यो विविक्तस्थानं सेवते यो लोकवन्धमुन्मूलयति निस्त्रैगुण्यो भवति यो योगक्षेमं त्यजति ॥४७॥

यः पुरुषः, विविक्तस्थानं एकान्तं सेवते, यः लोकवन्धं लौकिक सम्बन्धं उन्मूलयति दूरीकरोति, निस्त्रैगुण्यः त्रिगुणारहितः उपनिषत्प्रतिपादितात्मयाथात्म्यनिश्चयः भवति, यः योगक्षेमं अप्राप्तस्य प्राप्त्युद्योगं प्राप्तस्य च परिरक्षणं त्यजति, सः मायां तरति ।

पदार्थ--(यः) जो (विविक्तस्थानम्) निर्जनस्थानको (सेवते) सेवन करताहै (यः) जो (लोकवन्धम्) लोकसंगरूप बंधनको (उन्मूलयति) उन्मूलन करताहै (निस्त्रैगुण्यः) त्रिगुणारहित (भवति) होताहै (यः) जो (योगक्षेमम्) योग क्षेमको (त्यजति) त्यागताहै ॥ ४७ ॥

भाषार्थ—मायासे निस्तार पानेका और भी उपाय कहते हैं, कि-लोकसमूहमें रहनेसे सांसारिक कोलाहलके कारण निरन्तर भगवच्चिन्तवन नहीं बनता, नानाप्रकारके लोकोंके संगसे व्यवहारमें

संलग्न होना पड़ताहै, इस दशामें संगदोष लगसकताहै और जन-समूहमें रहनेसे लौकिकमर्यादाके अनुसार ही आचार व्यवहार आदि की व्यर्थ अडचनमें पड़ना होगा, नाच गान रंगरसमें मन मग्न होजायगा, इसलिये निर्जनस्थानमें निवासकरना ही हितकारी है, जो निष्काम कर्मके द्वारा विशुद्धचित्त होकर निर्जनस्थानमें आत्म-चिन्तवनमें लगे रहतेहैं, इसप्रकार जिनके लौकिक व्यवहारका बंधन विच्छिन्न होजाताहै, जो सत्त्व, रजः, तमः इन तीन गुण और इन गुणोंके कार्योंसे अलग रहकर उपनिषदोंमें वर्णन कियेहुए आत्म-तत्त्वके साक्षात्कार की चेष्टा करतेहैं, ऐसा करनेके लिये जो वाणी शरीर और मनको वशमें रखकर योगक्षेमको त्यागदेतेहैं अर्थात् भोजनाच्छादनकी चेष्टातकको त्यागदेतेहैं, शरीरयात्राके लिये जो कुछ चाहिये भगवद्भक्तको उसकी भी चिंता नहीं करनी पडती-- "भोजनाच्छादने चिंतां वृथा कुर्वन्ति वैष्णवाः। विश्वम्भरो गुरुर्येषां किं दासान् समुपेक्षते।" अर्थात् विष्णुपरायण पुरुष अपने भोजन वस्त्रके लिये वृथा ही चिंता करतेहैं, क्योंकि-चराचर सकल विश्वको भोजन देनेवाला विश्वम्भर जिनका रक्षक है वह क्या अपने अनुगत सेवकों की उपेक्षा करसकताहै ? भगवान्की तो प्रतिज्ञा ही है, कि-"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां

योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ " जो पुरुष अनन्यभावसे मेरा ध्यान करते हुए उपासना करतेहैं उनकी शरीरयात्राके निर्वाहका भार मैं अपने ऊपर लेताहूँ। क्योंकि--जब सब कुछ छोड़कर भी अपने लिये हाय हाय ही रही तो उस छोड़नेको धिक्कार है, ऐसी वृत्तिवाले पुरुष शरीर और शरीरके संबंधियोंकी ममतासे रहित और शांत होकर पापरहित, अजर, अमर, क्षुधापिपासारहित, सत्यकाम, सत्यसङ्कल्प, शुद्ध जीवात्माके साक्षात्कारके अनंतर सकल प्राणियोंमें समदर्शी-पना पाकर परमप्रेमके प्रकट होनेपर मायाके पार होजातेहैं ।४७।

यः कर्मफलं त्यजते कर्माणि संन्यसति ततो निर्द्वन्द्वो भवति ॥ ४८ ॥

यः कर्मफलम् त्यजति, ततः कर्माणि अपि संन्यसति परित्य-जति सः ततस्तदनन्तरं निर्द्वन्द्वः द्वन्द्वातीतो भवति।

पदार्थ-(यः) जो (कर्मफलम्) कर्मफलको (त्यजते) त्यागता है (कर्माणि) कर्मोंको (संन्यसति) त्यागताहै (ततः) तदनंतर (निर्द्वन्द्वः) द्वन्द्वातीत (भवति) होता है।

भाषार्थ-जबतक साधकके मनोवेगकी शान्ति न हो अर्थात पदार्थोंमें प्रवृत्ति बनीरहै तबतक विहित कर्मोंका आचरण न छोड़े

परंतु उन कर्मोंके फलको अपने भोगके लिये न चाहकर उन सब कर्मोंका फल भगवान्को अर्पण करदेय, तदनंतर जब इंद्रियें और उनका वेग शांत होनेलगे अर्थात् निवृत्तिमें श्रद्धाका उदय होय तब विक्षेपकारी कर्मोंको भी त्यागदेय। इस प्रकार साधनके क्रमसे सुखदुःखादि द्वन्द्वोंके पार होजाय अर्थात् जिसका चित्त सुखमें स्पृहारहित और दुःखमें उद्वेगरहित हो वह समदर्शी ही मायाके पार होता है ॥ ४८ ॥

यो वेदानपि सन्न्यसति केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते ॥ ४९ ॥

यः वेदान् वेदोक्तकाम्याविधीन् अपि संन्यसति त्यजति केवलं एकमात्रं अविच्छिन्नानुरागं निरंतरं प्रेम-लभते।

पदार्थ-(यः) जो (वेदान्-अपि) वेदोक्त मर्यादाको भी (संन्यसति) त्यागता है (केवलम्) एकमात्र (अविच्छिन्नानुरागम्) निरंतर प्रेमको (लभते) पाता है।

भावार्थ-कर्मफलमें आसक्तिरहित होकर कर्मफलका अनुष्ठान करते २ मनका वेग दूर होकर शुद्धचित्त हुए मनुष्यको ज्ञान और भक्तिकी प्राप्ति होती है, फिर लोकमर्यादाकी ओरको ध्यान नहीं होता। स्वधर्माचरणके गुण और उसको त्यागनेके दोषको जानने

वाले पुरुषके भी लौकिककर्मका त्याग होजाताहै, लौकिककर्मकात्याग होने पर भी वेदकी ओरको ध्यान रहनेसे वैदिक कर्मका त्याग नहीं होता, भक्त भक्तिका उदय होनेपर्यन्त ही वेदविहित कर्मका अनुष्ठान करतेहैं, परंतु प्रेमपंथी पुरुष लोकमर्यादा और वेदमर्यादा दोनोंको त्यागकर निरन्तर प्रेमके साथ भगवान् के गुणानुवादका श्रवण कीर्तन आदि ही करतेहैं, जिनके अन्तःकरणमें ऐसे पवित्र परमप्रेमका प्रवाह निरन्तर वहनेलगताहै वह अनायासमें ही माया के पार होजातेहैं ॥ ४९ ॥

स तरति स तरति स लोकाँस्तारयति ॥ ५० ॥

सः निरवच्छिन्नप्रेमयुक्तो भक्तः, मायां तरति, लोकान् अपि तारयति ।

पदार्थ-(सः) वह (तरति) तरताहै (सः) वह (तरति) तरताहै (लोकान्-अपि) लोकोंको भी (तारयति) तारता है ।

भाषार्थ--नारदजी भक्तिरसमें भरकर और भक्तितत्वकी निर्मल ज्योतिका दर्शन करकै, भक्तिसाधककी विश्वमोहिनी अवस्थाको देखकर आनन्दमें नाचउठे और लोगोंकी आँखें खोलनेके लिये उत्साह के साथ कहतेहैं, कि-अविछिन्न भगवत्प्रेमी भक्त ही मायाके पार होताहै और आप ही पार नहीं होता, किंतु और

लोगोंको भी पार लगाताहै, भगवान् आप ही कहतेहैं, कि- "मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति, वा, पुनाति भुवनत्रयम् ।" अर्थात् मेरा भक्त त्रिलोकीको पवित्र करताहै ॥ ५० ॥

सप्तम अनुवाक

अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम् ॥ ५१ ॥

येन प्रेम्णा भक्तः स्वयं कृतार्थः सन्नन्यानपि कृतार्थयति तस्य प्रेम्णः स्वरूपं अनिर्वचनीयं वक्तुमशक्यम ।

पदार्थ-(प्रेमस्वरूपम्) प्रेमका स्वरूप (अनिर्वचनीयम्) अकथनीय है ।

भावार्थ--जिस प्रेमकी सहायतासे परमकल्याण होताहै, उस प्रेमका स्वरूप वाणीसे नहीं कहाजासकता, उसको प्रेमी ही जानते हैं, जानकर भी उसको वह किसीके सामने प्रकट नहीं करसकते, इस संसारमें ऐसी कोई वस्तु वा वाक्य है ही नहीं जिसके द्वारा प्रेमका स्वरूप समझायाजासकै, प्रेमके लिये दूसरा शब्द है चाहना परंतु लौकिक चाहना और श्रीभगवान्की चाहना एक नहीं है, लौकिक चाहनाकी मूल अशुद्ध है, क्योंकि--उसमें स्वार्थ है, भगवत्प्रेम अत्यन्त शुद्ध और निःस्वार्थ है । भगवत्प्रेमके भीतर निःस्वार्थभाव, निरहंकारभाव और आत्मसमर्पणका भाव भराहुआ

है। जहाँ स्वार्थ है, तहाँ अहंकार है, जहाँ आत्मभरीपन देखने में आताहै तहां लौकिक प्रेम ही होसकताहै, भगवत्प्रेम नहीं होसकता। भगवत्प्रेम आत्मामें एक ऐसा पदार्थ होताहै, कि-जो मनुष्य के स्वार्थको भगवदर्थमें, अहंकारको दीनतामें और स्वार्थीपन को परमार्थपरायणतामें बदलकर विलीन करके अणुचैतन्यको विभुचैतन्यमें, अंशको अंशीमें, दासको प्रभुमें और शक्तिको शक्तिमान् में समर्पण करादेताहै। भगवत्प्रेम अनादिसे बाहिर्मुख जीवको सबप्रकारसे अन्तर्मुख करदेताहै। वह स्वभावसे भगवद्विमुख मनुष्य को निरंतर स्मरणके प्रवाहमें डालकर हरसमय भगवान्की सन्मुखता देताहै। प्रेम आत्माकी वह वृत्ति है, कि--जो परमक्षुद्रमनुष्यको वाणी और मनके अगोचर अनन्त परब्रह्मकी खोजमें प्रवृत्त कराकर अंशको अंशीके साथ, शक्तिको शक्तिमान्के साथ मिला कर अटूट बंधनमें बांधदेती है। वह मनुष्यके अस्वाभाविक अहङ्कार को स्वाभाविक अहङ्कारमें विलीन करके उसमें आनेवाले प्रभुता के अभिमानको चिरकालके लिये भुलाकर ठहरनेवाली दास्यबुद्धि को उत्पन्न करदेती है और अंतमें उसकी क्षुद्र वासना को परमेश्वरकी महती कृपामें मिलाकर, चिरकालसे अलगहुई शक्तिको शक्तिमान्के साथ संभोगदशामें पूर्णतया एकाकार करदेती है। वह

मनुष्यकी स्वतंत्रताको परतंत्रतामें बदलदेती है, मनुष्यके सकल स्वार्थमूलक कर्मोंको परार्थमूलक करके, जगत्के द्वेषभावको प्रीति भावमें बदलकर उसको सकल जीवोंकी सेवामें—भगवान्की सेवामें लगादेती है। वह मनुष्यके अज्ञानांधकार को दूर करके उसको निःस्वार्थभावसे परोपकार करनेके लिये जगत्का हित करनेके लिये तत्त्वज्ञानसे प्रकाशित करदेती है। वह मनुष्यको अपनी ओरकी चिन्तासे रहित करके उसका ध्यान संसार और संसारपतिकी ओर को लगादेती है। वह मनुष्यके कठोर अन्तःकरणको कोमल करदेतीहै, संसारके सकल विक्षेपोंको हटादेतीहै, विक्षिप्त चित्तको शांत करतीहै, मनुष्यकी मोहनिद्राको दूर करके जगादेती है, खिन्नताको दूर करके प्रसन्नता देती है, कर्त्तव्यभ्रष्ट मनुष्यको कर्त्तव्य पर ठहराती है, नीरस चित्तमें सरसता लाती है, उसकी शक्ति अनंत है, उसका स्वरूप अनिर्वचनीय है, क्योंकि—उसकेसी कोई लौकिक वस्तु है ही नहीं, इसीसे भगवत्प्रेमको लौकिक वाणीसे प्रकाशित करनेकी आशा दुराशा ही है ॥ ५१ ॥

मूकास्वादनवत् ॥ ५२ ॥

तत् मूकास्वादनवत् अनिर्वचनीयम् ।

पदार्थ—(मूकास्वादनवत्) गूँगेके स्वादकी समान है ।

पदार्थ-(मूकास्वादनवत्) गूँगेके स्वादकी समान है ।

भावार्थ-जैसे गूँगा पुरुष परम स्वादु मीठे पदार्थोंका स्वाद लेकर आनन्दसे गद्गद होजाताहै, परन्तु वाक्शक्ति न होनेसे दूसरे को उस रसका वर्णन करके नहीं समझासकता, केवल हँसदेताहै, ऐसे ही भगवान्का प्रेमी भक्त भी प्रेम प्रकट होनेके समय आनन्दसे गद्गद होजाताहै स्वयं उसका स्वाद लेकर भी दूसरे को उसका स्वरूप कह कर नहीं समझासकता, इसकारण वह वाणीका विषय न होनेसे अनिर्वचनीय है ॥ ५२ ॥

प्रकाश्यते क्वापि पात्रे ॥ ५३ ॥

क्वापि पात्रे कस्मिंश्चित् अधिकारिणि स्वयमेव प्रकाश्यते ।

पदार्थ-(क्वापि) किसी भी (पात्रे) अधिकारीमें (प्रकाश्यते) प्रकाशित होताहै ।

भावार्थ—प्रेम स्वयंप्रकाश है, उसका कोई प्रकाशक नहीं है, बुद्धिके विचार, कष्टकल्पना और भाषाकी निपुणताके द्वारा उसके स्वरूपकी व्याख्या नहीं कीजासकती, परन्तु उसमें अपनी एक ऐसी शक्ति है, कि--जब कोई भाग्यवान् पुरुष प्रेममें मतवाला होकर अपने को आप ही भूलजाता है, उस समय वह प्रेमी के संसर्गसे धीरे २ आप ही प्रकाशित होजाताहै ॥ ५३ ॥

गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्द्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम् ॥ ५४ ॥

गुणरहितं गुणातीतं, कामनारहितं कामनाया अविषयं, प्रतिक्षणं वर्द्धमानं, अविच्छिन्नं अखण्डितं, सूक्ष्मतरं परमं सूक्ष्मं, अनुभवरूपं प्रेम ।

पदार्थ--(गुणरहितम्) गुणोंसे हीन (कामनारहितम्) कामनाहीन (प्रतिक्षणवर्द्धमानम्) क्षण२ में बढ़नेवाला (अविच्छिन्नम्) विच्छेदरहित (सूक्ष्मतरम्) अतिसूक्ष्म (अनुभवरूपम्) अनुभवस्वरूप है ॥

भावार्थ--किसीके गुणोंको देखकर जो प्रेम, भक्ति वा चाहनाका उदय होताहै, स्वर्गादिकी कामनासे वा भोगादिकी लालसासे जो पुण्यकर्ममें वा भक्तिमें आसक्ति होतीहै वह वास्तविक प्रेम नहीं है, क्योंकि--गुणोंसे जो प्रेम कियाजाताहै, उसका गुण दूर होते ही उस प्रेमका क्षय होजाताहै, स्वर्गादिकी प्राप्ति होजानेपर कर्ममें आसक्ति कम होजातीहै, स्त्रीसंभोगकी समाप्तिमें वह प्रेम नष्ट होजाताहै, परंतु भगवत्प्रेम का विच्छेद नहीं होता, क्योंकि--वह गुणादिके संपर्कसे शून्य और कामनारहित होताहै, संसारका प्रेम

पहिले ते बड़े चावके साथ बढ़ताहै, परन्तु पीछे अवस्था, रूप, बल और धन आदिके घटने के साथ २ दिनादिन घटता चलाजाताहै, परंतु भगवत्प्रेम तो क्षण २ में बढताहै, प्रेमकी धारा अनंत परमेश्वरकी ओरको अटूट प्रवाहसे निरंतर वहती है, उसमें किसी सांसारिक दुःख आदिकी वाधा, विच्छेद वा विराम नहीं होता, क्योंकि--भगवद्वियोगके महान् दुःखसागरमें संसारके सकल क्षुद्र दुःख डूवजातेहैं। वह भगवत्प्रेम सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म और अनुभवस्वरूप है, वह सच्चिदानंदमय परमेश्वरकी सच्चिदानंदमयी स्वरूपशक्तिकी अनुकूल अभिलाषारूप स्वाभाविक वृत्ति है, यह वृत्ति निरन्तर बढतीहुई अविच्छिन्न प्रवाहरूपसे वहती रहतीहै। यह जिससमय भगवान्की कृपासे किसी मनुष्यके अन्तःकरणमें प्रकट होकर उसकी वृत्तिके साथ मिलजातीहै, उससमय यह उसमनुष्य को अपनी ही वृत्ति मालूम होतीहै और तब ही यह उसके अनुभवका विषय होतीहै, इसप्रकार सूक्ष्मातिसूक्ष्म और अनुभवरूप होनेसे ही इसका कोई उदाहरण नहीं दियाजासकता। भाषाके वोधा कविने प्रेमकी सूक्ष्मताके वर्णनमें यह कवित्त कहाहै-"अतिछीन मृनालके तारहुते, तेहि ऊपर पाँवदे आवनो है।सुचिवेंवते नाको सकीर्न तहाँ, परतीतको टाँडो लदावनो है ॥ कवि बोधा अनी घनी नेनहुते,

चढि तापै न चित्त डिगावनो है । यह प्रेमको पंथ कराल महा, तरवारकी धारपै धावनो है " ॥ ४९ ॥

तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव चिन्तयति ॥ ५५ ॥

तत् प्रेम प्राप्य, मनुष्यः तदेव अवलोकयति पश्यति, तदेव शृणोति तत् एव चिन्तयति विचारयति ।

पदार्थ--(तत) उसको (प्राप्य) पाकर (तत्-एव) उस को ही (अवलोकयति) देखता है (तत्-एव) उसको ही (शृणोति) सुनता है (तत्-एव) उसको ही (चिन्तयति) विचारता है ।

भावार्थ—प्रेमीके सामने प्रेममय भगवान्का स्वरूप और प्रेमका स्वरूप एक ही पदार्थ है, जिन्होंने प्रेमको पालिया उन्होंने भगवान्को पालिया, इस कारण उनको फिर प्रेमस्वरूप भगवान्के सिवाय और किसीको देखने, सुननै वा विचारने की इच्छा नहीं रहती ॥ ५५ ॥

गौणी त्रिधा गुणभेदादार्त्तादिभेदाद्वा ॥५६॥

प्रेम्णः साधनरूपा भक्तिर्द्विविधा मुख्या गौणी, तत्र गौणी गुण भेदात् वा आर्त्तादिभेदात् त्रिविधा ।

पदार्थ-(गौणी) गौणी भक्ति (गुणभेदात्) गुणभेदसे (वा) अथवा (आर्त्तादिभेदात) आर्त्त आदि भेदसे (त्रिधा) तीन प्रकारकी है ॥

भाषार्थ--मुख्या और गौणी भेदसे भक्ति दो प्रकारकी है, ज्ञानी वा निर्गुण भक्तकी अनुभव कीहुई भक्ति मुख्या है, उसका स्वरूप यहां तक दिखाया । अब गौणी भक्ति सत्त्व-रजः-तमः इन गुणोंके कारण सात्त्विकी राजसी और तामसी यह तीनप्रकारकीहै, सत्वगुणीकी कीहुई सात्त्विकी, रजोगुणीकी कीहुई राजसी और तमोगुणी पुरुषकी कीहुई गौणी भक्ति तामसी कहाती है, जिज्ञासु वा मुमुक्षु भक्त सात्त्विक, आर्त्त भक्त राजस और अर्थार्थी भक्त तामस अधिकारी है । इनमें जिज्ञासु निष्काम और आर्त्त तथा अर्थार्थी सकाम हैं ॥ ५६ ॥

उत्तरस्मादुत्तरस्मात्पूर्वपूर्वा श्रेयाय भवति॥५७॥

उत्तरस्मात् उत्तरस्मात् परतः परतः पूर्वपूर्वा भक्तिः श्रेयाय कल्याणाय भवति ।

पदार्थ-(उत्तरस्मात् उत्तरस्मात्) अगले २ से (पूर्वपूर्वा) पहिली २ (श्रेयाय) कल्याणके लिये (भवति) होतीहै ।

भाषार्थ-यद्यपि तीनों प्रकारकी भक्ति कल्याणकारिणी है

तथापि तामसी से राजसी और राजसीसे सात्त्विकी भक्तिको अधिक कल्याणदायक समझना चाहिये, क्योंकि—अर्थार्थी तामस भक्त किसी कामनासे ही भक्ति करतेहैं, यदि उनको किसी पदार्थ की इच्छा न हो तो वह जाने भक्ति करैं या नहीं, इसमें संदेह ही है; इसके सिवाय काम्य पदार्थ मिलजानेपर अभिमान होकर फिर उनको भगवान्की याद भी नहीं आती, आर्त्त भक्तको भी आर्त्तिके विना भक्ति नहीं होती, विपत्तिमें विना पडे वह भगवान्का भजन नहीं करते, यह ठीक है, परन्तु विपत्तिसे छूटने पर उनको अभिमान होनेकी अधिक संभावना नहीं है, विशेषतः उस दशामें वह अपनी हीनताका अनुभव करके श्रीभगवान्को आत्मसमर्पण करतेहैं, इस कारण वह कभी भगवान्को भूलते नहींहैं, इसीसे अर्थार्थीसे आर्त्त भक्त श्रेष्ठ है, परंतु जिज्ञासु इन दोनोंसेही श्रेष्ठ है, क्योंकि-अर्थार्थी और आर्त्त दोनो सकाम हैं, जिज्ञासु मोक्षकाम वा निष्काम होता है, जिज्ञासु केवल तत्वज्ञानके लिये भगवान्की भक्ति करतेहैं, जिज्ञासुकी भक्ति श्रीभगवान्के लिये वा श्रीभगवान्को जाननेके लिये होतीहै। उसकी भक्तिकी मूलमें अपनी क्षुद्रता और भगवान्का महत्व झलकताहै। अर्थार्थी और आर्त्तकी अभिलाषा भगवान्के अतिरिक्त उनके प्रसादसुखको पानेके लिये होतीहै।

जिज्ञासुमें पहिले मोक्षसुखकी अभिलाषा दीखने पर भी साधनके पकजाने पर वह भी नहीं रहती, इस दशामें ही वह ज्ञानी होता है, ज्ञानीको श्रीभगवान्‌के सिवाय और कोई अभिलाषा ही नहीं होती, इसकारण निर्गुण भक्त ज्ञानी ही सबसे श्रेष्ठ है ॥ ५७ ॥

अष्टम अनुवाक ।

अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ ॥ ५८ ॥

अन्यस्मात् कर्मादिसाधनात् भक्तौ सौलभ्यं सुलभत्वम् ।

पदार्थ-(अन्यस्मात्) औरसे (भक्तौ) भक्तिमें (सौलभ्यम्) सुलभता है ।

भावार्थ-मोक्षके तीन साधन हैं-कर्म, ज्ञान और भक्ति । कर्म, कर्मयोग और अष्टांगयोग भेदसे दो प्रकारका है, यह कर्म मोक्षका साधन होतेहुए भी साक्षात् साधन नहीं है किंतु ज्ञान और भक्तिका अनुगामी होकर परम्परासे मोक्षका साधन होताहै । ज्ञान और भक्ति मोक्षके साक्षात् साधन हैं । कर्मयोग और अष्टांगयोगका साधन करतेसमय अनेकों सिद्धियें वशमें होकर साधकको उन्नतिमार्गमें विघ्न डालती हैं, परन्तु ज्ञानयोग वा भक्तियोगमें विघ्न होना संभव ही नहीं, क्योंकि-ज्ञानयोगमें चित्तशुद्धि पर्यन्त और

भक्तियोगमें आशयशुद्धिपर्यन्त कोई सिद्धि वशमें होती ही नहीं। इसप्रकार ज्ञानयोग और भक्तियोगमें समता मालूम होनेपर भी भक्तियोग ही सुलभतामें श्रेष्ठ है, क्योंकि--विषयोंसे वैराग्य विना हुए, ज्ञानयोगका अधिकारी नहीं होसकता, परंतु भक्तियोग में ज्ञान वा वैराग्यकी अपेक्षा नहीं है, जो विषयोंमें न अतिआसक्त हो और न अतिविरक्तहो वही भक्तियोगका अधिकारी है। हाँ यदि कोई ज्ञान वैराग्यको लेकर भक्तियोगमें प्रवेश करें तो वह उत्तम अधिकारी हैं, उनको भक्तिकी सिद्धि शीघ्र ही होजायगी, भगवान्की कथा आदिमें श्रद्धा होतेही भक्तियोगमें अधिकार होजाताहै। कर्मत्यागके विना पुरुष ज्ञानी नहीं होसकता, परन्तु भक्त होसकता है, ज्ञानी कर्मका त्याग करनेपर ही ज्ञानी होगा, परन्तु भक्त कर्मफलको त्यागनेसे ही भक्त होजायगा। यद्यपि विघ्न न होनेके विषयमें ज्ञान और भक्ति दोनो समान हैं, परन्तु ज्ञानसे भक्तिका साधन सरल है। ज्ञानके साधन यम नियम आदि नीरस हैं, और भक्तिके साधन श्रवण कीर्त्तन आदि सरस हैं, ज्ञानमें अधिकारका विचार है, परन्तु भक्तिमें अधिकारका विचार नहीं है, अतः भक्ति सबसे सुलभ है, तभी तो विद्याविहीन होकर भी गणिका, निर्धन होकर भी शबरी, वेद न पढकर भी गोपियें, मनुष्य न होकर भी

जटायु और गजराज तथा चाण्डाल होकर भी गुहने भक्तिके द्वारा भगवान्को पाया ॥ ५८ ॥

प्रमाणान्तरस्यानपेक्षत्वात्स्वयं प्रमाणत्वात् ५९

भक्तिः स्वयं प्रमाणस्वरूपा तत्सिद्ध्यै प्रमाणांतरस्य आवश्यकता न।

पदार्थ--(प्रमाणांतरस्य) अन्यप्रमाणकी (अनपेक्षत्वात्) अपेक्षा न होनेसे (स्वयम्)आप(प्रमाणत्वात्)प्रमाणरूप होनेसे।

भावार्थ–भगवान्की भक्ति करनेमें किसीप्रकारका परिश्रम वा क्लेश नहीं होता, यह बात किसीको समझानेकी आवश्यकता नहीं है, जो भक्तिकी उपासना करते हैं,उनको आप ही इस बातका अनुभव होजाताहै। भक्ति होगई या नहीं, विवादके द्वारा इस संदेहका निवारण नहीं करना पडता, भक्तिके साधनमें क्लेशका उदय होनेकी तो बात ही क्या? प्रत्युत सकल क्लेश दूर होजातेहैं, उस भक्तिके लिये सच्ची उत्कंठा होते ही प्राप्त होती है, चित्तकी सच्ची चाहना ही उसका मूल्य है, अतएव भक्तिकी सुलभतामें भक्ति ही प्रमाण है ॥ ५९ ॥

शान्तिरूपात् परमानन्दरूपाच्च ॥ ६० ॥

भक्तिः शान्तिरूपा परमानन्दरूपा च अतोऽपि सुलभैव।

पदार्थ-(शान्तिरूपात्) शान्तिरूप होनेसे (च) और (परमानन्दरूपात्) परमानन्दरूप होनेसे ।

भावार्थ-जिस साधनमें अशान्ति और दुःख है वह ही दुर्गम है और जिसमें वादविवाद, द्वन्द्व, उद्वेग, सन्देह, संकल्प, विकल्प, सुख दुःख आदि तरंगोंका लेश भी नहीं है, किंतु शान्ति और सुख है, वह ही सुगम है, जो सुगम है वह ही सुलभ है । भक्तिके सिवाय और सब साधनोंके अनुष्ठानमें अशान्ति और असुख होताहै, भक्तिके अनुष्ठानसे ही शांति तथा सुख उत्पन्न होताहै और, साधनोंके सिद्ध होनेपर शान्ति तथा सुख दीखता परंतु भक्तिमें प्रवृत्ति होते ही शांति और सुखका अनुभव होने लगता है, क्योंकि भक्ति स्वयं शांतिरूप और सुखरूप है, कामना ही अशांतिकी मूल है, भक्तिका आरंभ होतेही सब कामनाएं रुकने लगती हैं और भक्ति परमानंदरूप है इसको तो सब ही जानतेहै॥

लोकहानौ चिन्ता न कार्या निवेदितात्म-लोकवेदत्वात् ॥ ६१ ॥

भक्तौ लोकहानेश्चिंता न कर्त्तव्या यतस्तदा आत्मा लोको वेदश्च भगवते निवेदितः ।

पदार्थ-(निवेदितात्मलोकवेदत्वात्) आत्मा, लोक और वेदको

निवेदन करनेके कारण (लोकहानौ) लोकहानिके विषयमें (चिंता) चिंता (न) नहीं (कार्या) करनी चाहिये ॥

भाषार्थ-जब आत्मा, लोक, वेद सब भगवान्को अर्पण कर-चुके, फिर लोक परलोक की चिन्ता क्या ? जो वस्तु जिसको अर्पण करदी जाती है, उसकी देखभाल और रक्षाका भार उसीके ऊपर होताहै, भगवान् उसकी चिन्ता आप करलेंगे, भक्तको तो केवल भगवान्की प्रेमसेवामात्रकी चिन्ता रखनी चाहिये, यही आज्ञा भग-वान्ने चतुःश्लोकीमें दी है, "एवं सदा स्वकर्त्तव्यं स्वयमेव करिष्यति। प्रभुः सर्वसमर्थो हि ततो निश्चिंततां व्रजेत् ॥ यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि। ततः किमपरं ब्रूहि लौकिकै वैदिकैरपि॥"॥ ६१॥

न तदसिद्धौ लोकव्यवहारो हेयः किंतु फलत्याग-स्तत्साधनञ्च कार्यमेव ॥ ६२ ॥

तस्या भक्तेः सिद्धौ लोकव्यवहारो न हेयः न त्याज्यः किंतु कर्मणः फलस्य त्यागः कर्त्तव्यः तस्य लौकिककर्मणः साधनमनुष्ठानञ्च कर्त्तव्यमेव, ।

पदार्थ—(तत्सिद्धौ) प्रेमसिद्धिके लिये (लोकव्यवहारः) लौकिक व्यवहार (न) नहीं (हेयः) त्यागना चाहिये (किंतु) परन्तु (फलत्यागः) कर्मके फलका त्याग (च) और (तत्सा-

धनम्) लौकिक कर्मका अनुष्ठान (कार्यम्-एव) करना चाहिये ही

भावार्थ—भक्तिके साधकको ईश्वरमें पूर्णतया आत्मनिवदन की दृढता होनेसे पहिले लोकव्यवहारोंको नहीं त्यागना चाहिये, नहीं तो वही दशा होगी, कि—"दोनो दीनसे गए पांडे, हलुआ हुआ न मांडे ।" साधनकालमें एकसाथ लोकव्यवहारको त्यागदेने से तो शरीरयात्राका निर्वाह होना भी कठिन है । योगारूढ होने का अभिलाषी पुरुष कर्मत्यागका अधिकारी नहीं है, जो योगारूढ होजाताहै वह ही कर्मको त्यागसकताहै । जबतक योगमें वृत्ति न जमजाय तबतक फलकी इच्छाको त्यागकर सकल लौकिक कर्मों का अवश्य ही करता रहे, ऐसा करते २ चित्त शुद्ध होजाता है और शुद्धचित्त पुरुष ही योगसिद्धि पासकता है, भक्तिमार्गमें श्रद्धा होते ही योगमेंको प्रवृत्ति होती है । जो सकलसंकल्पोंको त्याग-कर सब प्रकारसे शरणागत होताहै, वह ही श्रद्धालु है, वह ही लोकव्यवहारको त्यागसकताहै । श्रद्धालु भी तीन प्रकारका होताहै, कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम । जिनके कुछ २ श्रद्धा होती है वह कनिष्ठ श्रद्धालु हैं, इसको ही स्वनिष्ठ अधिकारी कहते हैं । स्वनिष्ठ अधिकारी कर्मको नहीं त्यागें किन्तु फलका उदय होने पर्यन्त आसक्तिको त्यागकर स्वधर्मविहित, हिंसारहित कर्मोंका आचरण

करते रहैं। जिनकी श्रद्धा मध्यम श्रेणीकी होती है वह मध्यम श्रद्धालु कहाते हैं, इनको परिनिष्ठित अधिकारी भी कहते हैं। इनको भी कर्मका त्याग नहीं करना चाहिये, यदि इनकी चित्त-शुद्धि होगई हो तब भी उसकी दृढताके लिये कर्म करते रहैं, यह यदि प्रतिष्ठाशाली हों तो लोकशिक्षाके लिये भक्तिप्रधान कर्मोंका अनुष्ठान करैं, ऐसे कार्य फलकी प्राप्ति पर्यन्त करने चाहियें। जिनकी श्रद्धा तीव्र हो वह उत्तम श्रद्धालु हैं, उत्तम श्रद्धालुका नाम निरपेक्ष है, निरपेक्ष भक्त केवल मनमें श्रीभगवान्‌की सेवा करैं, इस संसारके साथ संबंध रखने वा त्यागनेके लिये उनको किसी विधि वा निषेधकी अपेक्षा नहीं रखनी चाहिये, उनके ऐसे आचरण से संसारकी कुछ क्षति नहीं होसकती ॥ ६२ ॥

स्त्रीधननास्तिकवैरिचरित्रं न श्रवणीयम् ॥६३॥

स्त्रियाः, धनस्य, नास्तिकस्य, वैरिणः च चरित्रं न श्रोतव्यम्।

पदार्थ—(स्त्रीधननास्तिकवैरिचरित्रम्) स्त्रियें और धनके विषय की बातें, नास्तिकों और वैरियोंका चरित्र (न) नहीं (श्रवणीयम्) सुनना चाहिये ॥

भाषार्थ—स्त्रियोंके रूप, यौवन, हाव, भाव आदिका जिसमें वर्णन हो उस पुस्तकादिको न पढो न सुनो, कोई ऐसी बातैं करै

ता भी न सुनो क्योंकि सुननेसे विलासवासनाका वेग बढजायगा। धन वैभव की बातैं न सुनो, क्योंकि-उसमें लोभ जागउठेगा। नास्तिकोंके चरित्र और उनकी कुटिल तर्कनाओंको भी मत पढो सुनो, क्योंकि-ऐसा करनेमें भगवान्का विश्वास विचलित होजायगा तुम्हारे शत्रुओंकी बातैं कोई सुनावे तो उधरको कान न लगाओ, क्योंकि-उन के बुरे व्यवहारकी बातैं सुनने पर तुम्हारा चित्त खिन्न और अप्रसन्न होकर क्रोधादिका उत्पन्न होना और तपःशक्तिका विचलित होना संभव है॥ ६३॥

अभिमानदंभादिकं त्याज्यम् ॥ ६४॥

अपराधहेतूनां दंभादीनां त्यागः कर्त्तव्यः।

पदार्थ-(अभिमानदंभादिकम्) अभिमान दंभ आदि (त्याज्यम्) त्यागदेना चाहिये।"

भावार्थ-अभिमान और दंभ यह दो भक्तिमार्गके वडे विरोधी हैं, क्योंकि—भक्ति सिद्ध होजाने पर भी 'मैं भक्त हूँ' मैं उपदेष्टा हूँ, इत्यादि अभिमान और पूजाआदिमें दिखावट के लिये वाहरी आडंबररूप दंभका उदय होसकता है, इसीकारण भक्तिपंथीको अपराधरूप दंभ, अभिमान, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदिका त्याग करना चाहिये॥ ६४॥

तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम् ॥ ६५ ॥

तस्मिन् भगवति अर्पितानि अखिलानि सकलानि आचाराणि कर्माणि येन, तेन कामादिकं अपि तस्मिन् भगवति एव करणीयम् ।

पदार्थ--(तदर्पिताखिलाचारः सन्) सकल कर्म भगवान्को अर्पण करतेहुए (कामक्रोधाभिमानादिकम्) काम, क्रोध, अभिमान आदि (तस्मिन्-एव) उसमें ही (करणीयम्) करना चाहिये।

भावार्थ--शरीर, इन्द्रियें और मनसे वैदिक लौकिक जो कुछ कर्म करै वह सब भगवान्को ही अर्पण करै । यदि कामका वेग उठे तो अनन्यचित्तसे परमात्मामें ही रति करै, कि--वह सर्वश्रेष्ठ प्यारा हमैं मिलै, यदि क्रोध करना हो तो उसीके ऊपर करै, कि-वह हमको क्यों नहीं मिलता ? यदि अभिमान करना हो तो भी उसीके विषयका करना, कि-हमारे सर्वैश्वर्यवान् प्रभुकी समान और कौन होसकता है ? अथवा हमारे प्राणप्यारेकी समान मनोहर और सुंदर दूसरा कौन होसकताहै ? यदि लोभ हो तो भगवद्रूप भक्तोंके संगका यदि मोह हो तो इष्टदेव भगवान् का और यदि मद हो तो भगवान्के गुणगानका करो, इत्यादि ॥ ६५ ॥

त्रिरूपभङ्गपूर्वकं नित्यदास्यनित्यकान्ताभजनात्मकं वा प्रेम एव कार्यं प्रेम एव कार्यमिति ।६६।

त्रिरूपभङ्गपूर्वकं-पूर्वं रूपत्रयस्य पृथग्भावं परित्यज्य नित्यं दास्यरूपं कान्ताभजनात्मकं नारीसेवनस्वरूपं निर्गुणभक्तिसाध्यं प्रेम एव कर्त्तव्यम् ।

पदार्थ-(त्रिरूपभङ्गपूर्वकम्) पहिले तीन रूपोंकी भिन्नताको विनष्ट करकै (नित्यदास्यनित्यकान्ताभजनात्मकम्) नित्य दासभाव और नित्य कान्तासेवनरूप (प्रेम-एव) प्रेम ही (कार्यम) करना चाहिये (प्रेम एव) प्रेम ही (कार्यम्) करना चाहिये (इति) इसप्रकार ।

भावार्थ-ब्रह्मा, विष्णु, शिव तीनोंमें भेदभाव न रखकर। ब्रह्म, ईश्वर, जीव तीनोंको एक मानकर सत्त्व, रजः, तमः तीनोंका एकत्र चूर्ण करकै गुरु, भगवान्, भक्त तीनोंको एक देखकर वा सत, चित्, आनन्द तीनोंको एकीभूत [illegible] पथम दासभावसे प्रारंभ कर [illegible] कान्तभावकी मनोहर [illegible] हो उस प्रेमका साधन [illegible] प्राप्त होताहै, और [illegible] प्रभुने कहाहै-'आयि [illegible] कृपया तव पादपङ्क-

हैं हूँ, इत्या।। आडंबररूप दं[illegible] अपने दृढ भगवद्रूप [illegible] अपराधरूप दंभ[illegible]गसे प्राप्त न यदि मन [illegible] आदिका त्याग [illegible]ङ्कर !

जस्थितधूलीसदृशं विचिन्तय ॥' हे नन्दनन्दन ! तुम्हारा सेवकमैं घोर भवसागरमें डूबरहाहूँ, मुझे तुम अपने चरणकमलोंमें स्थित धूलिकी समान विचारो ॥ ६६ ॥

नवम अनुवाक

भक्ता एकान्तिनो मुख्याः ॥ ६७ ॥

एकांतिनः मदेकनिष्ठा भक्ताः मुख्याः श्रेष्ठाः ।

पदार्थ--(एकांतिनः) एकांती(भक्ताः) भक्त (मुख्याः) श्रेष्ठ हैं

भावार्थ-जिनकी भक्ति अन्तःकरणसे एक मुझमें ही निबद्ध होतीहै, बाहरी आडम्बरके लिये नहीं होती, जो एकमात्र मेरा ही आधार रखतेहैं, वह मेरे एकान्ती वा एकनिष्ठ भक्त ही श्रेष्ठ हैं, श्रीचैतन्यमहाप्रभुका उपदेश है, कि-'न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये। मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि' ॥ अर्थात्-हे! जगदीश्वर ! मैं धन नहीं चाहता, परिवार नहीं चाहता सुन्दरी नारी नहीं माँगता, कवित्वशक्ति भी नहीं चाहता; केवल यही चाहता हूँ, कि-जन्म जन्ममें आपकी अहैतुकी भक्ति हो ॥

कण्ठावरोधरोमाश्रुभिः परस्परं लपमानाः पावयंति कुलानि पृथिवीञ्च ॥६८॥

कण्ठावरोधो गद्गद्भावः, रोमः रोमोद्गमः, अश्रुः प्रेमाश्रुप्रवाहः एतै- रुपलक्षिताः परमप्रेममग्नाः भक्ताः,परस्परमन्योन्यं लपमानाः परमेश्वर- गुणान् कीर्त्तयंतः,कुलानि निजवंश्यान् पृथिवीं च पावयंति पुनन्ति ।

पदार्थ-(कण्ठावरोधरोमाश्रुभिः) कण्ठरोध, रोमाञ्च और अश्रुयुक्त हुए (परस्परम्) आपसमें (लपमानाः) कीर्त्तन करते हुए (कुलानि) कुलोंको (च) और (पृथिवीम्) पृथिवीको (पावयन्ति) पवित्र करतेहैं ।

भावार्थ-जिस समय भक्तिका प्रबल उभार होताहै, जिस समय परमप्रेमसे हृदय शिथिल होजाता है, जिस समय प्राण सच्चे अनुरागमें भरजाते हैं, उससमय भक्त परस्पर भगवान् के गुण नाम आदिका कीर्त्तन करतेहैं कण्ठरोध होजाताहै, शरीर पुलकायमान होकर रोम खडे होजाते हैं और न जाने किसके प्रेममें विह्वल होकर दोनो नेत्रोंमेंसे अविरल धार बहनेलगती है, ऐसे महापुरुष, शरीर, इन्द्रियें और मनके धर्म आदि संसारधर्ममें मोहित नहीं होते, उनके मनमें भोगवासना वा शरीरमें भोगचेष्टाका उदय नहीं होता, उनको जन्म कर्म आदिका देहाभिमान नहीं होता, उनके आत्मामें वा चित्तमें अपने परायेकी भेदबुद्धि नहीं होती, वह त्रिलोकीभरकी विभूतिकी प्राप्ति होनेपर भी भगवत्स्मरणको नहीं

भूलते, उनका चित्तभ्रमर कभी भगवान्के चरणकमलोंको नहीं त्यागता। यह अवस्था बडी पवित्र और बड़ी मनोहर है, इस अवस्था का साधन बड़ा दुर्लभ है, ऐसे साधक जिससमय भक्तिमें भरकर परस्पर कीर्त्तन करते हैं उससमय वह केवल अपने वंशधरोंको ही नहीं, किंतु भूमंडलभरको पवित्र करदेतेहैं, उनकी भक्तिकी पवन शरीरको लगजाने पर पत्थरसमान कठोर हृदयमें भी पवित्रता और भक्तिका संचार होताहैं, तभी तो श्रीचैतन्यमहाप्रभुने कहा है, कि-" नयनं गलदश्रुधारया, वदनं गद्गदरुद्धया गिरा। पुलकैर्निचितं वपुः कदा, तव नामग्रहणे भविष्यति ॥ " हे प्रभो ! कब आपका नाम लेनेमें मेरे नेत्रों से अश्रुधारा बहैगी, कंठ गद्गद और शरीर रोमांचित होगा? ॥ ६७ ॥

तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मी कुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्रीकुर्वंति शास्त्राणि ॥ ६९ ॥

ते भक्ताः तीर्थानि पावनस्थानानि तीर्थीकुर्वन्ति पुनन्ति, कर्माणि सुकर्मीकुर्वन्ति, शास्त्राणि अध्ययनेन सच्छास्त्रीकुर्वन्ति ।

पदार्थ—(तीर्थानि) तीर्थोंको (तीर्थीकुर्वन्ति) पवित्र करतेहैं (कर्माणि) कर्मोंको (सुकर्मीकुर्वंति) सुकर्म करतेहैं (शास्त्राणि) शास्त्रोंको (सच्छास्त्रीकुर्वंति) सत्शास्त्र करतेहैं ।

भावार्थ-पापी पुरुष तीर्थों पर जातेहैं तो तीर्थ उनके पाप दूर करके पवित्र करतेहैं, परंतु उन पापियोंके समागमसे तीर्थोंमें जो मलिनताका स्पर्श होजाताहै, भक्तोंके समागमसे तीर्थ उस पापसे मुक्त होकर फिर तीर्थता पाते हैं इसीसे कहाहै- " जाह्नव्यादीनि तीर्थानि पापनिष्कृतिहेतवे। कांक्षंति हरिदासानां दर्शनं हरिदासवत् ॥ अनेकों कर्महैं, उनमेंसे भक्तपुरुष जिनकर्मों का अनुष्ठान करतेहैं वह सब कर्म सुकर्म कहलाते हैं, ऐसे ही शास्त्र भी असंख्य हैं, परंतु उनमेंसे जिनशास्त्रोंको भक्त पढ़तेहैं, रचतेहैं वा व्याख्या करते हैं, वह सब शास्त्र ही सच्छास्त्रहैं ॥ ६९ ॥

तन्मयाः ॥ ७० ॥

यतः तन्मयाः भगवदेकनिष्ठाः भवन्ति ।

पदार्थ-(तन्मयाः) तन्मय होतेहैं ।

भावार्थ--भगवान् पवित्रोंको भी पवित्र करनेवालेहैं 'पवित्राणां पवित्रं यः ।" और मंगल करनेवालोंके भी मंगलस्वरूप हैं " मंगलानाञ्च मंगलम्' भक्त उनके भावमें भीगकर तन्मय होजातेहैं, जैसे नदी सागरके भीतर जाकर सागररूप होजातीहै, तैसे ही भक्त भगवान् में आत्मसमर्पण करके भगवान्की पवित्र शक्तियोंको पाजातेहैं यही कारण है, कि-उनके समागमसे तीर्थ, कर्म और शास्त्र भी पवित्र

होजातेहैं। "तत्रैव गंगा यमुना त्रिवेणी गोदावरी सिंधु सरस्वती च। सर्वाणि तीर्थानि वसन्ति तत्र यत्राच्युतोदारकथाप्रसङ्गः।" इस श्लोकमें यह दिखाया है, कि—भगवद्गुणगानका आसन सकल तीर्थोंसे भी पवित्र और ऊँचा है। यह भी शास्त्रमें अनेकों स्थान पर कहा है, कि—जो कुछ कर्म करै वह भगवान्के उद्देश्यसे करै, इससे सिद्ध है, कि—कर्मोंकी अपेक्षा भगवान् अधिक पवित्र हैं, और यह भी लिखाहै, कि--यस्मिन् शास्त्रे पुराणे च हरिभक्तिर्न दृश्यते। न श्रोतव्यं न वक्तव्यं यदि ब्रह्मा स्वयं वदेत्॥ इससे सिद्ध हुआ, कि—शास्त्रकी पवित्रताका कारण भी भगवन्नाम ही है, तब भगवद्भावमय, श्रद्धेय भक्तोंके संगसे तीर्थादि पवित्र हों तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? ॥ ७० ॥

मोदन्ति पितरो नृत्यन्ति देवताः सनाथा चेयं भूर्भवति ॥ ७१ ॥

भक्तान् अवलोक्य पितरः मोदन्ति प्रहृष्यन्ति, देवताः इन्द्रादयः नृत्यन्ति, इयं भूः च सनाथा भवति।

पदार्थ--(पितरः) पितर (मोदन्ति) प्रसन्न होते हैं (देवताः) देवता (नृत्यन्ति) नाचते हैं (च) और (इयम्) यह (भूः) भूमि (सनाथा) सनाथ (भवति) होतीहै।

भावार्थ—भक्तोंके प्रभावसे भूलोक पवित्र होता है, पितृलोक निवासी और देवताओंका आकाशमेंका सूक्ष्मतत्त्वपूर्ण तेजोमार्ग स्वच्छ होता है, भक्तका दर्शन पाकर सकल मर्त्यजीव पवित्र होकर उनकी पितृकार्य और देवकार्यमें श्रद्धा होती है। याग, यज्ञ, पितृतर्पण आदि करनेपर, पितर और देवता तृप्त होते हैं, भक्तोंको और उनके चरित्र चेष्टा आदिको देखनेपर भक्तके पितर और कुलदेवता अपनेको धन्य मानते हैं और भक्तको दर्शन देनेके लिये भगवान् भूतलपर प्रकट और प्रकाशित होते हैं, इसलिये पृथिवी भी भक्तके अनुग्रहसे सनाथ होती है '- कुलं पवित्रं जननी च धन्या वसुंधरा भागवती च धन्या। स्वर्गेपि तेषां पितरश्च धन्या येषां कुले वैष्णवनामधेयम् ॥ ७० ॥

नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादिभेदः।

तेषु भक्तेषु जातिः जन्म, विद्या वेदादिपाठः, रूपं सौन्दर्यं, कुलं धनं क्रियादीनां भेदः न भवति।

पदार्थ—(तेषु) उन भक्तोंमें (जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादि-भेदः) जन्म, विद्या, रूप, कुल, धर्म, कर्म आदिका भेद (न) नहीं (अस्ति) है।

भावार्थ—ब्राह्मण वा शूद्र, चाण्डाल वा म्लेच्छ, मनुष्य वा

पशु जो भी जीव भक्तियुक्त होकर भगवान्के शरणागत होगा, भक्त-वत्सल भगवान् उसकी जाति विद्यादिकी ओरको दृष्टि न देकर दर्शन देंगे, क्योंकि–उनकी तो प्रतिज्ञा है, कि–"यो मद्भक्तः स मे प्रियः" तथा भक्त भी परस्पर जाति विद्या आदिका गौरव लाघव नहीं रखते हैं, क्योंकि--भगवत्प्रेमीका लक्षण ही यह है, कि--न यस्य जन्म-कर्मभ्यां वर्णाश्रमजातिभिः।सज्जतेऽस्मिन्नहंभावो देहे वै स हरेः प्रियः। अर्थात् जिसको इस शरीरमें जन्म, कर्म, वर्ण, आश्रम और जाति आदिका अहंकार नहीं होता वही भगवान्का प्यारा भक्त है ७२

यतस्तदीयाः ॥ ७३ ॥

यतो हेतोः ते तदीयाः।

पदार्थ--(यतः) क्योंकि (तदीयाः) उनके हैं।

भावार्थ-जब तुम उनके हो और वह भी उनके हैं तथा जब तुम्हारी और उनकी एकावस्था बिना हुए दोनोंको वह अपना करते ही नहीं और जब वह दोनोंके हृदयमें समानभावसे विराजमान हैं, तब दोनोंमें भेद कैसा ?।

दशम अनुवाक

वादो नावलम्ब्यः ॥ ७४ ॥

वादः प्रतिकूलो तर्कः नावलम्ब्यः न स्वीकर्त्तव्यः।

पदार्थ-(वादः) शुष्क तर्क (न) नहीं (अवलम्ब्यः) स्वीकार करै ।

भावार्थ-भक्तिमार्गमें वाद कहिये शुष्क तर्कको सर्वथा त्याग देय जिसका प्रत्यक्ष वा अनुमान नहीं होसकता उसमें तर्क करना निष्प्रयोजन है, विश्वासकी दृढताके लिये कहीं २ सत् तर्क करलेय परन्तु प्रतिकूल तर्क तो करै ही नहीं, क्योंकि तर्क वितर्क, वाद विवाद करने से मनमें दूसरेको जीतनेका दुराग्रह होताहै और साथ २ तमोगुण का उदय होजाताहै, तमोगुण भक्तिका बाधक है, इसलिये वाद विवादको त्यागदेय ॥ ७४ ॥

बाहुल्यावकाशत्वादनियतत्वात् ॥ ७५ ॥

वादे बहुलतया अवकाशः समयापव्ययो भवति तत्र भगवत्प्राप्ति-नियमोऽपि नास्ति अतः स त्याज्यः ।

पदार्थ-(बाहुल्यावकाशत्वात) अधिक अवकाशवाला होनेसे (अनियतत्वात) नियमरहित होनेसे ।

भावार्थ-भगवत्तत्त्वको जाननेके लिये वाद विवाद करना नितांत निरर्थक है । तुम चाहे जितना वाद विवाद करो, चाहे जितनी शास्त्रीय चतुराई दिखाओ, चाहे जितना कूटतर्कोंका जाल फैलाओ, तुम्हारी बुद्धि भगवान्को नहीं पावैगी "यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" मन उसको न पाकर वाणीके सहित लौट

आता है। व्यासजीने कहा है " तर्काप्रतिष्ठानात "। वह तो मन और बुद्धिका अगोचर है ' नेति, नेति ' वाक्योंके द्वारा वेदान्तने उसका वर्णन करनेकी चेष्टा की है, तुम्हारा वृथा वादविवाद उस राज्यका क्या समाचार पासकताहै ? एकमात्र भक्तिसे ही जिसको पायाजाता है " भक्त्याहमेकया ग्राह्यः, भक्त्या त्वनन्यया लभ्यः " उसको पानेके लिये वादविवादको छोडदो, केवल उसका विश्वास करो ॥ ७५ ॥

भक्तिशास्त्राणि मननीयानि तद्वर्द्धककर्माण्यपि करणीयानि ॥ ७६ ॥

भक्तिशास्त्राणि भक्तिप्रतिपादकानि ग्रंथानि मननीयानि विचारणीयानि, तद्वर्द्धकानि भक्तिवर्द्धकानि कर्माणि अपि करणीयानि

पदार्थ-(भक्तिशास्त्राणि) भक्तिशास्त्रोंको (मननीयानि) विचारै (तद्वर्द्धककर्माणि) भक्तिको बढानेवाले कर्म (करणीयानि) करै।

भाषार्थ- वाद विवादको छोडकर केवल सिद्धांतस्वरूप भक्तिशास्त्रमें जो कुछ लिखाहै उसका विचार करै । आचार्य और भक्तोंके सिद्धांतवाक्योंके गूढ तत्त्वोंको समझै, और भक्तिको बढानेके लिये सत्संग, तीर्थयात्रा, भगवत्कथाओंका श्रवण, भक्तोंके साथ सम्भाषण, भगवत्सेवा और गुरुशुश्रूषा आदि कार्य करै तो

भक्ति बराबर बढती रहैगी ॥ ७६ ॥

सुखदुःखेच्छालाभादित्यक्ते काले प्रतीक्ष्यमाणे क्षणार्द्धमपि व्यर्थं न नेयम् ॥ ७७ ॥

पदार्थ-(सुखदुःखेच्छालाभादित्यक्ते) सुख, दुःख इच्छा, लाभादिशून्य (काले-प्रतीक्ष्यमाणे) कालकी प्रतीक्षा करतेहुए(क्षणार्द्धम्-अपि) आधा क्षणभी (न) नहीं (नेतम्) विताना चाहिये,

भावार्थ—मनुष्यजीवनका समय है ही थोड़ासा, फिर उसका बहुतसा भाग, विवश होकर प्रकृतिके नियमानुसार बालकपन शयन आदिमें विताना पड़ताहै, कभी दुःखमें, कभी सुखमें और कभी विषयचिंतवनमें समय वीतजाताहै, यदि भाग्यवश कभी वासनाओंका क्षय होकर तुम्हेंसुखदुःखादिसे रहित समय मिलजाय तो उसमेंसे आधा क्षण भी व्यर्थ नहीं खोना चाहिये, उसमें परमपुरुषार्थरूप परमप्रेमका अनुसंधान करना चाहिये ॥ ७७ ॥

अहिंसासत्यशौचदयास्तिक्यादिचारित्राणि परिपालनीयानि ॥ ७८ ॥

पदार्थ-(अहिंसासत्यशौचदयास्तिक्यादिचारित्राणि) अहिंसा, सत्य, शौच, दया, आस्तिकता आदि आचार (परिपालनीयानि) पालन करने चाहियें ।

भावार्थ—चित्तकी मलिनताको दूर करनेके लिये और सत्त्व-गुणका उदय होनेके लिये अहिंसा, सत्य, शौच, दया और आस्तिकता आदि यम नियमोंका आचरण यथाशक्ति करै ॥७८॥

सर्वदा सर्वभावेन निश्चिंतितैर्भगवानेव भजनीयः।

पदार्थ--(सर्वदा) सब कालमें (सर्वभावेन) सब भावसे (निश्चिंतितैः) निश्चिन्तरूपसे (भगवान्-एव) भगवान् ही (भजनीयः) सेवा करने योग्य हैं।

भावार्थ—अब सिद्धांतवाक्य कहते हैं, कि—तुम प्रतिदिन सकल कार्योंमें उठते, बैठते, खाते, पीते सदा भगवान्की सत्ताको देखो, भगवद्भजनाके समय संसारकी सब चिंताओंको छोडदो, क्योंकि-संसारकी मलिन चिन्ताके मध्यमें भगवद्भक्तिका पूरा २ प्रकाश नहीं होता, भक्ति ठीक न होनेसे भजनमें भी अडचन रहती है।

संकीर्त्यमानः शीघ्रमेवाविर्भवत्यनुभावयति भक्तान् ॥ ८ ॥

पदार्थ-(सङ्कीर्त्यमानः) कीर्त्तन कियाजाताहुआ (शीघ्रम् एव) शीघ्र ही (आविर्भवति) प्रकट होताहै (भक्तान्) भक्तोंको (अनुभावयति) अनुभवयुक्त करता है।

भावार्थ—भगवान्ने कहा है--' नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां

हृदये न च । मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥" जहां मेरे भक्त मेरे नाम गुण आदिका कीर्त्तन करतेहैं, मैं तहां ही नित्य विराजमान रहता हूं । श्रीभगवान्‌का कीर्त्तन बडाभारी साधन है, वह दुष्ट घोड़ेकी समान चंचल मनको रोकने के लिये लगाम है । मनको लय विक्षेप आदिरहित अवस्थामें समाधिके योग्य करनेका उपाय कीर्त्तन ही है । श्रवण और स्मरण कीर्त्तनके अङ्ग हैं, कीर्त्तन दशामें श्रवण और स्मरण आप ही होतेहैं कीर्त्तन की वडीभारी महिमा है, कीर्त्तन होनेपर भगवान् शीघ्र ही भक्तके हृदयमें प्रकट होजाते हैं, और भक्तोंको मनचाहे रूपका दर्शन देते हैं ॥८०॥

त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी भक्तिरेव गरीयसी ८१

पदार्थ-(त्रिसत्यस्य) त्रिकालमें सत्स्वरूप भगवान्‌की (भक्तिः एव) भक्ति ही (गरीयसी) सबसे श्रेष्ठ है (भक्तिः--एव) भक्ति ही (गरीयसी) सबसे श्रेष्ठ है ।

भावार्थ-भगवान्‌को पानेके शास्त्रमें जितने साधन कहे हैं, उनमें एक भक्ति ही सबसे सुगम और श्रेष्ठ उपाय है । क्योंकि--'भक्ति-प्रियो माधवः' अन्य साधन वडी कठिनतासे होसकते हैं तथा उनमें सर्वसाधारणका अधिकार भी नहीं है । परन्तु भक्ति ऐसा साधन है, कि—केवल दीनभावके आवेशमें भगवान्‌को पुकारने पर ही

भक्तवत्सल भगवान् तुम्हारे हृदयमें उदित होजायंगे। जो सिद्धि युगयुगान्त योगसाधना करनेसे नहीं होती वह भक्तिकी साधनासे क्षणभरमें होसकती है। योगराज्यमें जो वाणी और मनके पार है, वही भक्तिराज्यमें हृदयकी तय २ में गुथा और जडाहुआ है, इसीसे नारदजी कहतेहैं, कि-भक्तिसे श्रेष्ठ और कोई साधन नहीं है ८१

गुणमाहात्म्यासक्तिरूपासक्तिपूजासक्तिस्मरणासक्तिदास्यासक्तिसख्यासक्तिकान्तासक्तिवात्सल्यासक्त्यात्मनिवेदनासक्तितन्मयासक्तिपरमविरहासक्तिरूपैकधाप्येकादशधा भवति ॥ ८२ ॥

पदार्थ-(एकधा-अपि) एकप्रकार की भी (गुणमाहात्म्यासक्तिरूपासक्तिपूजासक्तिस्मरणासक्तिदास्यासक्तिसख्यासक्तिवात्सल्यासक्त्यात्मनिवेदनासक्तितन्मयासक्तिपरमविरहासक्तिरूपा) गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कांतासक्ति,वात्सल्यासक्ति आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति, और परम विहासक्ति रूप (एकादशधा) ग्यारह प्रकारकी (भवति) होतीहै।

भावार्थ-जो जिसको चाहताहै वह उसकी सकल चेष्टा और सकल अंगोंको चाहताहै, तथापि नजाने क्यों कोई२ किसी२ अंग

की सुंदरता और किसी २ अंगकी चेष्टाको विशेषरूपसे प्रेम करते हैं, ऐसे ही भक्त भगवान्‌में सब प्रकारसे आसक्त होतेहैं, परंतु कोई२ भक्त उनके किसी २ भावमें विशेष आसक्त होतेहैं । जैसे राजा परीक्षित, नारद, हनुमान् और हरिगुण सुननेको दश सहस्र कान माँगनेवाले राजा पृथु भगवान्‌के गुणमाहात्मासक्त भक्त, हुए कृष्णके बालरूपके प्रेमी नन्द उपनन्द यशोदा आदि और किशोर रूपकी प्रेमिका ब्रजदेवियें पशु पक्षी आदि रूपासक्त भक्त थे । राजा पृथु पूजासक्त, प्रह्लाद स्मरणासक्त, हनुमान् अक्रूर विदुर आदि दास्यासक्त, अर्जुन सुग्रीव उद्धव कुबेर सुबल श्रीदामादि सख्यासक्त, ब्रजगोपिकाएँ कान्तासक्त, नन्द यशोदा कौशल्या दशरथ आदि वात्सल्यासक्त, राजा बलि आत्मनिवेदनासक्त, कौण्डिन्य शुकदेव आदि महायोगी अभेदभावसे तन्मयतासक्त, श्रीकृष्णके वैकुण्ठको पधारने पर गोपी और उद्धव आदि परमविरहासक्त भक्त कहलायेहैं

इत्येवं वदंति जनजल्पनिर्भया एकमताः कुमारव्यासशुकशाण्डिल्यगर्गविष्णुकौण्डिन्यशेषोद्धवारुणिबलिहनुमद्विभीषणादयो भक्त्याचार्याः ॥ ८३ ॥

पदार्थ-(इति) इस भक्ति के स्वरूपको (एवम्) इसप्रकार

(जनजल्पनिर्भयाः) लोकहास्यसे निर्भय हुए (एकमताः) एक है मत जिनका ऐसे (कुमारव्यासशुकशांडिल्यगर्गविष्णुकौण्डिन्यशेषोद्धवारुणिबलिहनुमद्विभीषणादयः) सनत्कुमार, व्यासजी, शुकदेव, शाण्डिल्य, गर्ग, विष्णु, कौण्डिन्य, शेष, उद्धव, आरुणि, बलि, हनुमान्, विभीषण आदि (भक्त्याचार्याः) भक्ति के आचार्य (वदन्ति) कहते हैं।

भावार्थ--लोकोंकी बकवादका कुछ भय न करकै सनत्कुमार वेदव्यास, शुकदेवजी, शांडिल्य, गर्गाचार्य, विष्णुस्वामी, कौण्डिन्य, शेष, उद्धव, आरुणि, बलि, हनुमान्जी, और विभीषण आदि भक्तिके सब आचार्योंने एकमत होकर एकवाक्यसे भक्तिके स्वरूपका इसप्रकार वर्णन कियाहै, उनके मत और व्याख्याके अनुसार नारद जीके भक्तिसूत्रोंको चाहे कोई उपहास्यकी दृष्टिसे देखै, परन्तु वह उससे भयभीत नहीं हैं, इसीकारण साहसके साथ ऊपरको भुजा उठाकर सब मनुष्योंसे कहते हैं, कि--हे जीवो! यदि अपना २ कल्याण चाहते हो तो भक्तिमार्गके पथिक बनो ॥ ८३ ॥

य इदं नारदप्रोक्तं शिवानुशासनं विश्वसिति श्रद्धत्ते स भक्तिमान् भवति स प्रेष्ठं लभते इति

पदार्थ--(यः) जो (इदम्) इस (नारदप्रोक्तम्) नारद-

जीके कहे (शिवानुशानम्) शिवोपदेशको (विश्वसिति) विश्वास करताहै (श्रद्धत्ते) श्रद्धा करताहै (सः) वह (भक्तिमान्) भक्तिवाला (भवति) होताहै (सः) वह (प्रेष्ठम्) प्रियतमको (लभते) पाता है (इति) भक्तिसूत्र समाप्त हुए ।

भाषार्थ—भक्तिकी व्याख्या करके अब फल कहते हैं, कि-यद्यपि और साधनोंसे भगवान्को ब्रह्मा, विष्णु, शिव, नारायण आदि रूपमें पासकते हो, परन्तु भक्तिकी साधनाके विना परमप्यारे रूपसे उसको नहीं पासकते । जो इन नारदजी के सूत्रोंपर विश्वास और श्रद्धा करके भक्तिमार्गमें चलेंगे, वह प्रियतमरूपमें भगवान् का दर्शन पावेंगे, श्रुतिने भी भगवान्के प्रियतमरूपका वर्णन किया है-" प्रेयो वित्तात्प्रेयः पुत्रात्प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मादन्तरतरं तदयमात्मा । " आत्मा (भगवान्) धनसे, पुत्रसे तथा और सकल प्रियवस्तुओंसे भी अधिक प्रिय हैं ॥ ८४ ॥

इतिश्री मुरादाबादनिवासि-भारद्वाजगोत्र-गौडवंश्य-प० भोलानाथात्मज ऋषिकुमारोपनाम-सनातनधर्मपताकासंपादक रामस्वरूपशर्मकृत पदार्थ भाषार्थसहित नारदभक्तिसूत्र समाप्त.

